म० गांधी का समाजवाद

लेखक

डाक्टर बी० पट्टाभि सीतारामैय्या

अनुवादक

श्री जगपति चतुर्वेदी, हिन्दी-भूषण, विशारद

:०:

विक्रेता—

मातृ-भाषा-मंदिर, इलाहाबाद।

१६५६]

[मूल्य २॥)

प्रकाशक—

राष्ट्र-भाषा-मन्दिर,

सोल एजेन्ट

मातृ-भाषा-मन्दिर,

इलाहाबाद।

मुद्रक :—

पन्नालाल सोनकर,

राष्ट्रीय मुद्रणालय,

३, सम्मेलन मार्ग,

प्रयाग।

विषय-प्रवेश

भारत अनेक अनुभवों के बीच से होकर गुजर रहा है जिनका सामना अन्य देशों को नहीं करना पड़ा। जहाँ शेष संसार में प्राचीन और आधुनिक विभिन्न प्रकार की संस्कृतियां और राष्ट्रीयताएं हैं जो उनके भाग्य-निर्माण पर पूर्ण नियंत्रण रखती हैं, भारत इस बात में बेजोड़ है कि राष्ट्र रूप में उसकी समान प्रगति और उसकी पुरातन सभ्यता विदेशी आक्रमणों के प्रहारों द्वारा आक्रान्त हुई हैं, और इस कारण उससे मुक्ति तथा उद्धार पाना ही भारत का सबसे पहला काम रह गया है। विस्तृत रूप में और अधिक गहराई तक जड़ जमाये हुए इस विदेशी बंधन से मोक्ष पाने के प्रयत्न के कारण ही विचारों और दृष्टिकोण में विरोध उठ खड़े हुए हैं—नर्म और भिक्षुक वृत्ति के मार्ग, जिनका १९२० तक अनुसरण किया जाता रहा, अब छोड़कर एक युद्ध कला की नई योजना, और युद्ध की एक नई ही पद्धति का अवलंबन किया गया अतएव यह स्वाभाविक ही था कि ऐसी युद्ध नीति और युद्ध की कार्य-कारिता के संबंध में सन्देह और कठिनाइयाँ उठाई गई होती और इसमें भी किसी को संदेह नहीं हो सकता कि वे अधिक से अधिक ईमानदारी और सचाई की भावना से ही उठाई गई होंगी। इसलिए विदेशी शक्ति का सामना कर सकने का उपाय विवाद का विषय ही नहीं हो गया है बल्कि उस युद्ध का लक्ष्य पदार्थ ही भीषण विवाद का केन्द्र बन गया है, जो विदेशी शक्ति को अधिकार-च्युत करने और उसकी जगह वह स्थापित करने के लिए करना पड़ता है, जिसे हम सब लोगों ने संक्षिप्त रूप मे स्वराज्य शब्द से संबोधित करना स्वीकार किया है। वास्तव में दोनों बातें एक ही संघर्ष के दो प्रदर्शन हैं। हम भारत से ब्रिटिश साम्राज्य को हिंसा मार्ग से निर्मूल करेंगे वा अहिंसा मार्ग से? यह इतनी व्यापक समस्या है, कि इसमें यह

आनुषंगिक समस्या भी सन्निविष्ट और अंतर्भूत है कि नया स्वराज्य क्या रूप धारण करेगा। उस स्वराज्य के रूप का अनुमान करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती जो भारत में एक खूनी क्रान्ति द्वारा स्थापित किया गया होता अथवा वह जो सत्याग्रह के प्रयोग और अहिंसा की शक्ति से स्थापित किया गया होता। थोड़े ही समय के प्रयोग-काल में अहिंसा को ठोस सफलता प्राप्त होने पर भी नई पीढ़ी के एक दल को इसकी शक्ति के विषय में अत्यधिक सन्देह हो रहा है, और इसलिए वे इसके द्वारा निर्धारित निग्रहों की कठोरता कम करने की अधिक समय की संकल्प-विकल्प की इच्छा के प्रभाव में पड़े हैं। यह देखने में अधिक कल्पना की आवश्यकता नहीं कि कोई भी नई शक्ति उस पीढ़ी द्वारा तुरन्त मान्य नहीं होती जिनमें उसका तुरन्त ही प्रचार हुआ होता है। जब भाप के इंजिन का आविष्कार हुआ तो उसके जन-प्रिया होने में समय लगा। आज भी ग्रामीण जुलाहा उस उड़न-ढरकी को संदेह दृष्टि से देखता है, जिसका प्रयोग उसके हाथ के करघे में किया गया है। ऐसे भी लोग हैं जो आज भी रेलगाड़ी, स्टीमर और जहाज द्वारा यात्रा करने में भय खाते हैं। वास्तव में ये अक्सर धोखा दे जाते हैं क्योंकि क्या हम आए दिन रेलगाड़ियों के लड़ जाने, दूसरे दिन जहाजों के पानी में डूब जाने, और तीसरे दिन हवाई जहाज के टूट फूट कर गिर जाने का समाचार नहीं सुनते? फिर भी समय के साथ इन वाहनों की लोकप्रियता बढ़ती ही जाती है। इसी तरह ऐसे भी लोग थे जिन्होंने मिट्टी के तेल का चिराग़ जलाना स्वीकार न किया जब इसने रेंडी के तेल के दिए का स्थान लिया, और न गैस को ही स्वीकार करना चाहा जब इसने मिट्टी के तेल का स्थान ग्रहण किया और अंत में बिजली पर नाक भौं सिकोड़ा, जब इसने तेल और गैस दोनों को पीछे कर दिया। अंतर्राष्ट्रीय भाग्य-निर्णय में निर्णायक शक्ति रूप में पाशविक बल के हम लोग इतने अभ्यस्त हो गए हैं

कि उसकी जगह अहिंसा के लेने की सम्भावना को हमारा हृदय स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं मालूम होता। एक आक्रामक और निश्चित शक्ति के रूप में अहिंसा एक पूर्ण दर्शन है और इसकी युद्ध नीति का विकास प्रयोगों के बाद प्रयोगों के होने जाने पर होता जायगा जो वास्तव में सत्य के प्रयोग बन जाते हैं।

चम्पारन १९०७ ई० में इस तरह का एक प्रयोग था। तब १९१८ में खैरा, १९२१ में बोरसद, १९२७ में गुरु का बाग, १९२८ में बारदोली, उसके बाद १९३० का महान नमक सत्याग्रह १९३८ में हरिजनोद्धार तथा अन्त में १९३७—३८ में धारा-सभा-कार्य-क्रम सत्याग्रह के चिरस्थायी सिद्धान्त के स्फूर्तिदायक संरक्षण में कार्यान्वित हुए। यह नया व्रत, यह पूर्ण स्फुटित दर्शन अभी प्रयोग काल में है, किन्तु इसने जो सफलता प्राप्त की है, वह भारत में ब्रिटिश साम्राज्य ऐसी प्रबल-शक्ति के सामने भी अपनी शक्ति और कार्य-शक्ति को प्रमाणित करता है। तब गान्धीवाद की जगह दूसरे वादों को स्थान देने की क्या आवश्यकता है जो योरप को छिन्न-भिन्न कर रहे हैं?

जब हमारे समाजवादी बन्धु समाजवादी रूप की शासन-व्यवस्था का बड़े जोर से समर्थन करते हैं तो हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि क्या यह केवल बेबसी की बात न होगी क्यों कि यदि क्रान्तिकारी अहिंसा का व्रत नहीं ग्रहण करते और ब्रिटिश शक्ति को हिंसा द्वारा पराभूत करते हैं तो उन्हें जनता से न तो यह पूछने की आवश्यकता होगी न वह पूछेंगे कि स्व-राज्य की शासन-प्रणाली कैसी होनी चाहिये। इसके विपरीत यदि हम अहिंसा और सत्याग्रह द्वारा अपनी ही शक्ति से विजय प्राप्त करने में समर्थ होंगे, तो हमें अधिक सन्देह में रहने की आवश्यकता न होगी क्योंकि जब हम समाजवादी सिद्धान्तों का पुनरुद्धार करेंगे जिन पर भारतीय समाज ने अपनी प्राचीन नींव अच्छी तरह और यथार्थ रूप में स्थापित की थी तो हमें उसे

आधुनिक अवस्थाओं के अनुरूप बना लेना होगा जिससे केवल अधिकतम संख्या के व्यक्तियों को अधिकतम सुख ही न मिले, बल्कि भारत के प्रत्येक पुरुष, और बच्चे को मानव-सुखों की आवश्यकताओ का अल्प परिणाम-निश्चित करना पड़ेगा। इन दोनों लक्ष्यों का मध्य इस अन्तर को संक्षेप में आधुनिकवाद और गांधीवाद का अन्तर कहा जाता है। गांधी जी ने जीवन का कोई नया सिद्धान्त नहीं निकाला है, बल्कि आधुनिक समस्याओं में केवल प्राचीन सुलझावों का पुनः प्रयोग किया है। उन्होंने भारत का आदर्श नहीं प्रदान किया है बल्कि साधन प्रदान किया है। आदर्श पहले से ही युगों से विद्यमान था। हां उस पर मैल अवश्य बैठ गई थी और वह उस बर्बादी के कूड़ा करकट से भर गया था जिसमें उसे भूतकाल में फँस जाना पड़ा था। वास्तव में वह लोगों की दृष्टि से ओझल हो गया था किन्तु उचित मार्ग से खोज किए जाने पर उसका पुनः अनुसंधान हो सका। जिसे हम गांधीवाद कहते हैं, वह इसी आदर्श का पुनः कथन है जिसमें आधुनिक युग की सभी परिवर्तित स्थितियों के अनुसार कुछ हेर-फेर कर दिया गया है इस आदर्श की मुख्य विशेषतायें इस पुस्तक के पृष्ठों में दी गई है जो प्रायः लेखों का पुनर्मुद्रण है जो पिछले सात वर्षों में लिखे गए थे। ये समाज के दो रूपों का स्पष्ट अन्तर चित्रित करते हैं जिसमें से एक में सामाजिक-आर्थिक रूप से विभाग किए गये हैं जिनमें अनेक वर्गों में भी सर्वदा शक्ति का सामंजस्य स्थापित रहता है और दूसरा समाज अनवरत बहाव की अवस्था में है और जिसमें चिरंतन विश्वास की धारायें जीवन की कड़ाही में प्रतिस्पर्द्धा और हिंसा को ज्वाला के ऊपर उबल रही हैं और उनमें नीचे की पर्तें अपने ऊपर की पर्तों तक पहुँचने और फिर उससे ऊपर उठने का प्रयत्न करती हुई जोर मारती और दबाव डालती हैं। आज एक सर्व-शक्तिशाली राष्ट्र और मानव व्यक्तित्व के मध्य संघर्ष है।

हम इस बात के लिए प्रयास कर रहे हैं कि "पारस्परिक सहानुभूति और सहयोग के आधार पर स्थित सामाजिक रचना ही उदार पन्थी वालों के स्वार्थ, व्यक्तिवाद और सर्वशक्तिमान राष्ट्र के उत्पीड़ित सामूहिकवाद का एक मात्र सुलझाव है।" "उदार पंथी पूँजीपतियों के अनियंत्रित व्यक्तिवाद" और "समाजवाद तथा साम्यवाद द्वारा व्यक्तिगत अधिकारों के पूर्ण लोप" के मध्य हमें कुछ सीमा तक व्यक्तिगत जायदाद का अधिकार स्वीकार करना पड़ेगा, साथ ही मुख्य उद्योग-धन्धों और उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण करना होगा क्योंकि व्यक्तिगत जायदाद की बुराई का इलाज उस बुराई के विरोध वा प्रतिबन्ध में है न कि अधिकार का ही लोप करने में।

भारतीय राजनीति में समाजवादी भावनाओं का विकास थोड़े समय से हुआ है, सन् १९१६ ई० में जब लखनऊ के सर्व दल सम्मेलन में पं० जवाहरलाल नेहरू ने समाजवाद पर विस्तृत भाषण दिया तो उसे सुन कर अवध के ताल्लुकेदार घबड़ा गये, जिनके प्रतिनिधि वहां पर मौजूद थे और इस कारण नेहरू रिपोर्ट में यह दफ़ा जोड़नी पड़े कि वैध तरीकों के प्राप्त जायदाद मालिकों के आधीन ही निश्चित रूप से बहने दी जायगी। मार्च १९३१ ई० के गांधी-इर्विन समझौते की महान घटना द्वारा सत्याग्रह की उल्लेखनीय सफलता प्रदर्शित होने के बाद मार्च १९३१ ई० में करांची के कांग्रेस अधिवेशन में एक सामाजिक-आर्थिक कार्य-क्रम बनाया गया, जिससे ज्वार की वृद्धि को विश्राम मिला, किन्तु १९३२ में सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ होने और भारत में अंग्रेजी द्वारा असंदिग्ध भाव धारण किये जाने के कारण जेल से लौटे हुये अंग्रेजी शिक्षित वर्ग के कैदियों में अहिंसा में अविश्वास और उदासीनता छा जाने के कारण समाजवाद और साम्यवाद का एक शुष्क कार्य-क्रम कार्यान्वित करने की बात उठी, जो सत्याग्रह के विपरीत साधनों के प्रति स्पष्ट पक्षपात

द्वारा पूर्ण किया जाने वाला था। इतिहास की भौतिक व्याख्या सत्य और अहिंसा के रहस्यमय और आध्यात्मिक सिद्धान्तों के स्थान पर युद्ध के भौतिक सिद्धान्तों को ही प्रथम स्थान देगा, और लखनऊ के अधिवेशन में (अप्रैल १९३६) समाज और गान्धीवाद के संघर्ष ने उग्र रूप धारण किया किन्तु साल भर के अन्दर ही फैजपुर (दिसम्बर १९३६ में) लोगों ने अनुभव किया कि समाजवाद को भी भारतीय-करण की आवश्यकता है, और इससे काँग्रेस के अधिक उग्र भाग तथा युवक दल के मस्तिष्क मे भी विचार की गति में परिवर्तन हुआ। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि अब भी उन्होंने उन तीन बातों का अनुभव करना प्रारम्भ किया है, जो समाज का पोषण करती हैं, अर्थात कानून, लोकमत और व्यक्तिगत चेतना व अन्तःकरण है। इसमें अन्तिम सबसे प्रबल अमोघ और सबसे अधिक अचूक है। यह अवश्य कहा जायगा कि समाजवाद एक जीवन यापन के साधन की अपेक्षा गौरव-त्याग रूप में ही अधिक प्रचारित किया जा रहा है। और एक जीवन का सिद्धांत जो वास्तव में गान्धीवाद है, इस बात को ऐसा अंगीकार करता है, अहिंसा को शक्ति स्वीकार कर लेने पर हमारे सामने शक्ति का एक नया और अनन्त स्रोत प्रकट हो जाता है, और इस सिद्धांत को मान कर इसके आधार पर बना हुआ समाज एक ऐसा बिजली घर होगा जहां पर संचालक गांधी अपने और अहिंसा के डायनमों द्वारा अनन्त विद्युत शक्ति उत्पन्न करेगा जो पहाड़ों को उखाड़ फेंकेगी और साम्राज्यों को निर्मूल कर देगी, रचनात्मक कार्य-क्षेत्र में यह मोटर से चलने वाले ट्रैक्टरों की भांति भूचाल पीड़ित राष्ट्र के कूड़ा कबाड़ को खोद डालेगा, और उद्धार के महान कार्य को इस प्रकार पूरा करेगा जिसके एक प्राचीन सभ्यता के लुप्त होते लक्षणों से शक्ति और जीवन का संचार हो सके। गांधी जी का समाजवाद केवल एक भौतिक शक्ति नहीं

है बल्कि नैतिक शक्ति है, जो राष्ट्रीय संस्कृति को पुनः उर्वर करती है जो उपेक्षा के कारण ऊपर बन गई है, तथा अन्दर से सूख कर निर्जीव हो गई है और बाहर की ओर फ़ालतू हरियाली के भर जाने के कारण दिखाई भी नहीं पड़ती।

जब इस देशी रूप में इस समस्या पर विचार किया जायगा तो इस बात का तुरन्त अनुभव होगा कि श्रम और मजदूरी भारत में विचारों के एक विचित्र मिश्रण के रूप हैं, यद्यपि पाश्चात्य देशों में वे मजदूरी के अभिभाज्य आनुषंगिक अंग हैं। अकसर यह आलोचना की जाती है कि जब हम इस देश के शिल्प जीवन की प्रशंसा का बखान करते हैं और इसने देश के लोगों को काम देने की जो निश्चित व्यवस्था की थी बात करते हैं तो हम केवल श्रम, अधिक श्रम, उससे भी अधिक श्रम से ही संतुष्ट हो जाते हैं। और हम श्रमिकों के लिये अवकाश की बात ही नहीं सोचते हमारा दावा है कि हमारी सामाजिक व्यवस्था की मूल भावना ही भारतीय शिल्प-जीवन में ताने और बाने की बात मानव उद्योगों में श्रम और अवकाश की बुनावट की तरह है। भारत में केवल श्रम और केवल अवकाश नहीं है श्रम अवकाश है और अवकाश श्रम है, श्रम कला है, श्रम आनन्द और मनोविनोद है, श्रम कलाकार की आत्मानुभूति और उसकी आत्मा की शान्ति है। श्रम और अवकाश भारतीय शिल्पकार के लिये उसी प्रकार विभाज्य नहीं है जिस प्रकार उसका शरीर और आत्मा। इस विषय के पहलू का अधिक विवरण आठवें अध्याय 'यंत्रों के दुष्परिणाम' में दिया गया है।

भारतीय समाज के इस सजीव दृष्टिकोण को ग्रहण करने के स्थान पर हमें पश्चिम की क्रांतियों के उसके अनेक परिवर्तित रूपों में निर्जीव अनुकरण करने में समय नष्ट करने के लिए आग्रह किया जाता है। यह अनुभव नहीं किया जाता कि पाश्चात्य देशों में भी एक क्रान्ति को पूर्ण होने में पर्याप्त समय लगता है, और उसके आगे बढ़ने व पीछे हटने की प्रत्येक अवस्था

का अनुकरण नहीं किया जा सकता। क्या हमें यह कहने की आवश्यकता है कि एक क्रांति की विभिन्न स्थितियों और रूपों का अनुकरण करना एक पूर्ण सवाक चित्रपट के लाखों चित्रों में से प्रत्येक चित्र को लेना है, रूसी राज्य क्रान्ति भी अपने विकास के पिछले दो दशकों में अनेक परिवर्तनों से होकर गुजरी है और यह हम लोगों के नवयुवक सुधारकों के लिये उचित मालूम पड़ता है कि वे एक नए आन्दोलन को पूर्ण के स्थान पर अंश अंश रूप कार्यान्वित करने के लिये हाथ में लेने के पहले उसके भाग्य-परिवर्तनों की जांच करें और विचार करें। क्या हम कह सकते हैं कि तब हम लोगों के समाजवाद का अच्छा फल निकलेगा ? जब एक बार हम लोगों की राष्ट्रीय संस्कृति के मुख्य अंगों को ग्रहण कर लिया जाता है तो यह मानव चक्षुओं के सम्मुख स्पष्ट हो जायगी जो राष्ट्र अपने पड़ोसी पर अधिकार करने की नीति नहीं रखता उसके नागरिक भी स्वाभाविक रूप से ऐसे होंगे जो एक दूसरे पर अधिकार न रखना चाहते हों। प्रेम और सेवा इसकी उन्नति के संकेत वाक्य होंगे और सम्पूर्ण राष्ट्र के सामूहिक कल्याण के लिए उसके प्रत्येक व्यक्तियों द्वारा की हुई प्रार्थना का परिणाम व्यक्तियों के पूर्ण विकास रूप में होगा जिससे प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण मनुष्य के रूप में विकसित होगा और अपने को अखिल मानव सङ्घ के एक अवयव रूप में बना लेगा जो सुसंस्कृत प्रवीण, आचार में उन्नति और जीवन में पूर्ण होगा तथा राष्ट्र के यन्त्र में स्वचालित कल और उसके भिन्न २ पुर्जों के रूप में न होगा। इनमें पहला गांधीवाद है और बाद वाला समाजवाद।

मछलीपटम, मद्रास] डा० बी० पट्टाभि सीतारामैय्या

भारत का आर्थिक शोषण

(इस पुस्तक के लेखक डा० पट्टाभि सीतारामैया हैं)

'भारत में अंग्रेजी राज' के यशस्वी लेखक, कर्मवीर श्रीयुत सुन्दर लाल जी इस मूल पुस्तक के सम्बंध में लिखते हैं–

कांग्रेस वर्किंग कमेटी के योग्य मेम्बर डाक्टर बी० पट्टाभि सीतारामैया देश के बड़े से बड़े राजनैतिक नेताओं में से हैं। वह अर्थ शास्त्र और रजनीतिक शास्त्र के भी पूरे पण्डित हैं। उन्होंने अंग्रेजी में इन विषयों पर कई छोटी छोटा अच्छी किताबें लिखी हैं। उनको The Economic Conquest. of India or The Britsh Empire Ltd. अभी हाल में प्रकाशित हुई है। इसमें उन्होंने पिछले १५० वर्ष के हिन्दुस्तान में अंग्रेजों की आर्थिक नीति का खाका खींचा है और नमक महसूल, कपड़े के व्यापार रुई की चुंगी, ओटावा का मशहूर समझौता, रेल, जहाज, कोयला, सिक्के, नोट, टकसाल, विदेशों के साथ हुंडियावन, बट्टा, डाक, महसूल, बङ्क, चेक, बीमा कम्पनियाँ, बिजली, फौज, वगैरा के बारे में अंग्रेजों की नीति जो शुरू से रही है और जो अब तक है उसे साफ २ और तफसील के साथ २ बयान करते हुए यह

दिखाया है कि किस तरह इन सब महकमों के इन्तिजाम में भारत के साथ खुला अन्याय किया जाता था और किस तरह इस देश से ज्यादा धन लूटना ही अंग्रेजी राज्य का सब से बड़ा उद्देश्य था। इस आर्थिक नीति का ही नतीजा है कि केवल एक कपड़े के ही धन्धे में जब कि सन् १८०३ तक एक गज कपड़ा भी विलायत से भारत में न आता था इस समय हमारा यह धंधा करीब चौपट था, हमारे करोड़ों कारीगर भूखों मरते थे और हमारा बाजार विलायती कपड़ों से पटा पड़ा था लेखक ने यह भी दिखाया है कि सन् १९३५ में जो नया कानून पास हुआ था इसके अनुसार कहा जाता है कि शासन के नये अधिकार भारतवासियों को दिये गये थे उसमें भारत की इन आर्थिक बेड़ियों को और ज्यादा जोरों के साथ कस दिया गया था। और आइन्दा के लिए इसका पूरा इन्तजाम कर दिया गया था कि अपना व्यापार या अपने उद्योग धन्धे उससे ज्यादा पनपने न पावें जितना कि अंग्रेजी कौम के लिये जरूरी है और भारत की यह भयंकर लूट बराबर जारी रहे। मेरी यह पक्की राय है और जबरदस्त ख्वाहिश है कि हर भारत-वासी जो अंग्रेजी पढ़ सकता है इस पुस्तक को पढ़ लें। जो अंग्रेजी नहीं जानते वह किसी हिन्दुस्तानी भाषा में उसका अनुवाद पढ़ सकें तो जरूर पढ़ें।

विषय-सूची

म० गांधी का समाजवाद

म० गांधी का समाजवाद

अध्याय १

समाजवाद का कार्य-क्षेत्र और दृष्टिकोण

समाजवाद वह वाद है। जो वर्तमान सामाजिक अवस्था में परिवर्तन करना चहता है। यह एक सुधार आन्दोलन की तरह प्रारम्भ हुआ जो समाज की बुनियाद को बढ़ाना और राज का कार्य-क्षेत्र विस्तृत करने का प्रयत्न करता है। अभी हाल तक राज वहां प्रारम्भ होता था जहाँ समाज और उसका प्रभाव समाप्त होता था। समाज का काम अधिकतया अपने सदस्यों को भोजन और वस्त्र, और जिन्हें भोजन और वस्त्र की प्राप्ति निश्चित रूप से हो उन्हें अवकाश और मनोविनोद की प्राप्ति कराना था। धीरे-धीरे राज पर सब की जिम्मेदारी डाली जा रही है। अभी हाल तक राज का काम सिर्फ कर वसूल करना और क़ानून और व्यवस्था की रक्षा करना था। अब इसे बेकारी भी दूर करनी पड़ रही है। कोई संगठित संस्था अपने अंगों की पुकार पर हक़ की बुनियाद पर कोई बात मानने के लिये तैयार हो जाती है, उसे नीचे के आन्दोलन की बात छोड़कर भी वही बात कर्तव्य की भाँति पूरा करने के लिये विवश होना पड़ता है। इसका मतलब यह है कि किसी आन्दोलन के अत्यावश्यक और प्रभावशाली मुख्य सत्य, जो एक हलचल और अशान्ति की तरह उत्पन्न हुए होते हैं, एक मत, दृढ़ सिद्धान्त का रूप धारण कर लेते हैं जो उस संगठन के कार्यों का नियंत्रण करता है। इस प्रकार आज जिस रूप

में राज स्थित है उसमें सामाजिक व्यवस्था की विषमताएं और अन्याय दूर करने के लिये अनाथालयों, कुष्ट-आश्रमों, असहाय आश्रमों की स्थापना, वृद्धावस्था में सहायतार्थ पेंसन की व्यवस्था, अस्पताल और निःशुल्क पाठशालाओं का निर्माण, बीमारी, असक्तता और दुर्घटनाओं के बीमें, बच्चा उत्पन्न होने पर माताओं की विशेष रूप से सहायता तथा निर्वाह योग्य मजदूरी दी जाने का जिम्मा लेने की व्यवस्था की जाती है। किन्तु यह सब दीवारों को सहारा देने वाली थूनी की तरह ही हैं जिनका निर्माण धनी और सम्पन्न लोग अपने सुचारु रूप से बने किन्तु तेजी से ढहते जाने वाले किलों की रक्षा करने के लिये किया है। ये कृपा-भाव दिखाने की भावना से किए हुए धर्मार्थ के काम हैं। किन्तु इन जमींदारों का धन गरीब किसान की मिहनत से पैदा होता है। व्यापारी की सम्पत्ति भूखों मरते हुए श्रमिक के उद्यम से जुटती है, महासागरों में अपनी जान को खतरे में डालने वाले खलासियों की मिहनत से ही जहाज का मालिक धनवान और अमीर बनता है। कारखानों में रात-दिन मरता हुआ शिल्पकार ही व्यवसायी को बणिकसम्राट बनाता है। इस प्रकार जमींदार, जहाजी व्यापारी, सेठ साहूकार और बणिकसम्राट उन लोगों द्वारा ही बनाए जाते हैं जो दिन भर मेहनत मजदूरी कर अपना पसीना बहाते हैं और कुत्तों की तरह जिन्दगी बिताते हैं इस पर समाजवादी स्वभावतया ही प्रश्न करता है कि यह हालत कितने दिनों तक बनी रहेगी? गरीब धनी के दिये सहायतार्थ टुकड़ों पर कब तक गुजारा करता रहेगा? श्रमिक कब तक अभागी जिन्दगी बिताता रहेगा जिसके न तो रहने का एक टूटा छप्पर तक हो न रोज एक बार नहाने धोने तक का सुभीता।

ये उचित प्रश्न हैं, किन्तु यह जब भारत में उठाए जाते हैं तो यद्यपि उनमें अटल जोर सा होता है तथापि उनमें एक निश्चित

वास्तविकता नहीं होती। भारत में हम पश्चिम की नक़ल करते हैं, हम उसकी भयानक व्याधियों का अनुकरण करते हैं और उसके लिये बेकार दवाओं का इस्तेमाल करते हैं। भारत का हर एक उथल-पुथल इंगलैंड में पहले हुए किसी उथल-पथल का पुराना निष्फल अनुकरण मात्र होता है। इंगलैंड में औद्योगिक युग अठारहवीं सदी के अन्त में प्रारम्भ हुआ। थोड़े ही समय में अर्थशास्त्र राजनीति के एक मुख्य अंग के रूप में विकसित हुआ। जहाँ यह पहले राजनीतिक प्रभाव का स्रोत मात्र था वहाँ यह राजनीतिक विषय रूप में बदल गया। इंगलैंड में इस राजनीतिक आर्थिक उथल-पथल की प्रमुख उल्लेखनीय घटनाएं हैं, और एक विचित्र संयोग से हम यह देखते हैं कि उसी के साथ भारत में भी उनके प्रतिबिम्ब रूप में घटनाएँ पाई जाती हैं। उन्नीसवीं सदी में इंगलैंड में उदार दल वालों अर्थात् बेरोक व्यापार के हिमायती लोगों का जन्म हुआ। इस तरह राजनीतिक शब्द-रचना का सीधे आर्थिक विषय से संबन्ध हुआ। औद्योगिकता की जब शीघ्र उन्नति हुई तो मध्य श्रेणी के लोगों का प्रभाव बढ़ा और वे मामूली दूकानदार की जगह भारी आढ़तिये बन गये। उन्होंने अपना राजनीतिक प्रभाव बढ़ाया, एक राजनीतिक दल स्थापित किया और सन् १८३२ ई० में मताधिकार का काफी अधिक विस्तार कराया। उसी साल भारत के लिये 'चार्टर ऐक्ट आफ इंडिया' कानून पास हुआ जिसके अनुसार इस देश में भारतीयों और यूरोपियों को बराबर अधिकार मिले। सन् १८५७ ई० में इंगलैंड के श्रमिक दल ने किसी प्रकार व्यावसायिक केन्द्रों में मताधिकार की मांग पेश की। भारत में १८५७ ई० में लोगों ने विदेशी शासन का जुआ अपने कंधों से फेंकने की कोशिश की और उसमें असफल होने पर उस जुए को पहले से भी भारी बना लिया। दूसरी किश्त की बारी १८८४ ई० में आई जब इंगलैंड के खेतिहर मजदूरों ने नागरिक

अधिकार प्राप्त किये। भारत में १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का जन्म हुआ सन् १६१७ ई० में रूस ने सोवियट प्रजातंत्र स्थापित किया। भारत में उसी वर्ष होम रूल (स्वशासन) आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और सन् १६२१ ई० में इसने तेजी से स्वराज्य की मांग पेश की। इस तरह इंगलैंड तो वास्तविक प्रजातंत्र की प्राप्ति की ओर तेजी से क़दम बढ़ाता जा रहा है और भारत मन्द गति से विदेशी शासन से अपना छुटकारा करने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकार भारत के राजनीतिक आन्दोलन इंगलैंड के समकालीन आर्थिक उथल-पथल के प्रतिबिम्ब मात्र हैं इंगलैंड अर्थ-शास्त्र में जहां तेजी से पग बढ़ा रहा है वहाँ भारत इंगलैंड की पिछली पीढ़ी की राजनीति के लहँगे की डोर में लटका हुआ है।

इसलिये इसमें आश्चर्य क्या है जब रूस से यहां तक पहुंचने वाली दासता से छुटकारा पाने की कहानियां सुनकर हम मुग्ध हो जायं ? किन्तु नक़ल करने से हमें कुछ भी नहीं मिल सकता। इंगलैंड का समाजवाद वहाँ की ही नवजात औद्योगिकता के अत्याचार के प्रति प्रतिरोध है। रूस का साम्यवाद शताब्दियों के निरंकुश शासन का आवश्यक परिणाम है। प्राचीन या नवीन सभी इतिहास में एक-तंत्र शासन के विरुद्ध सशस्त्र और खूनी क्रान्ति निश्चित बात रही है। हाँ यह जरूर बड़े संदेह की बात रही है। कि इसमें क्रान्तकारियों को लाभ हुआ या नहीं, इस से एक नये रामराज्य का श्रीगणेश हुआ वा नहीं। इस से उन लोगों की सामाजिक और आर्थिक अवस्था में सुधार हुआ वा नहीं जिनके लिये खून की नदियाँ बहाई गई यदि प्रत्येक क्रान्ति से उसका अभिलाषित उद्देश्य पूरा हो तो उसके बाद फिर दूसरी अनेक क्रांतियों की जरूरत न पड़े। इसलिये किसी क्रान्ति की योजना और प्रचार करने के पहले, वह चाहे हिंसा के सिद्धान्त

पर हो वा अहिंसा के, उन लोगों को जो, दुख झेलती हुई जनता के हित के लिये अपना सर्वस्व त्याग करने के लिये तैयार हों, यह विचार कर लेना अत्यन्त उचित है कि इच्छित परिणाम पर पहुँचने के लिए कोई विशेष कार्य-क्रम लाभ-प्रद है वा नहीं और वह भी किस हद तक।

फलतः भारत में हम लोगों के अध्ययन के विषय हैं:—जमीन के बटवारे के सिद्धान्त, उसकी लगान में राज का भाग, प्रजा के प्रति राज के कर्तव्य, गांव और कस्बों में जीवन का संगठन, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से समाज की रचना, प्राचीन स्मृतिकारों और धर्माचार्यों के द्वारा देश की जनता के सामने रक्खे हुए विद्या और धन के आदर्श, विदेशियों के भीषण आक्रमणों के कारण देश में उत्पन्न हुई अधोगति, भारत पर अंग्रेजी आधिपत्य के अनेक पहलुओं के रूप, पूर्व के अधः पतन की पश्चिम की जिम्मेदारी, आधुनिक प्रभावों का द्रुतगामी रूप, जिन स्थायी सिद्धान्तों पर प्राचीन भारतीय समाज का निर्माण हुआ था, उसके पुन-र्जीवित करने की आवश्यकता, युगों से प्रचलित उपज और खपत के भव्य सिद्धान्त का पुनरुद्धार, गांव, जिले, प्रान्त और देश भर के स्वतः पूर्ण रहने की व्यवस्था, जिस रूप में हमारा देश अभी हाल तक रहा है, सुई तागे से लेकर रेशमी फीते और बाल में लगाने के पिन तक पाश्चात्य देशों की चीजें फेरी द्वारा गांव गांव के दरवाजे दरवाजे बिकने से पैदा हुई तबाही, ग्राम्य शिल्प की बर्बादी, पश्चात्य देशों से मंगाई जाने वाली वस्तुओं पर, भारत और उसके सात लाख गावों की, सबेरे से शाम तक पूर्ण निर्भरता, समाजवादी वा किसी भी दूसरे वादी के लिए इन सब बातों का पूर्ण विचार-पूर्वक अध्ययन पूर्वी देशों की सामाजिक व्यवस्था का सुधार करने के लिए, पाश्चात्य समाजवाद

वा किसी भी दूसरे वाद के नपे तुले सिद्धान्त का प्रयोग करने के पहिले अत्यन्त आवश्यक है।

समाजवादी जिस मार्ग का अनुसरण करता है, उसकी अपेक्षा उसके सिद्धान्त के लिए यह वास्तव में अधिक सुगम मार्ग है क्योंकि सब से लम्बा मार्ग वास्तव में निष्कंटक होता है। ईश्वर को धन्यवाद है कि उद्योगधन्धे अपनी तमाम तबाहियों के साथ देश के भीतर अभी घुस नहीं सके हैं, पूर्ण व्याप्त नहीं हुए हैं। अभी कुल पन्द्रह लाख श्रमिक तक सभी उद्योग-धंधों में होंगे, यदि हम समय पर जग जायं तो हम कलकारखानों की इस बाढ़ को वक्त पर ही रोक सकते हैं जो, सेवक रूप में तो विनम्र है किन्तु स्वामी रूप में भयानक। इस व्यापक विषय पर पूरी तरह विचार करने के लिए एक अलग अध्याय दिया गया है, किन्तु यह मान लिया जाय कि कल-कारखानों से चाहे जो लाभ हो और वे बहुत हैं भी—किन्तु इसने मनुष्य को गुलाम बना दिया है, मनुष्य के कौशल का लोप किया है, घरों को बेपर्द कर दिया है, परिवार के आचार को धक्का पहुँचाया है, शिल्पकारी की सृजनात्मक व्युत्पन्नता को भंग कर दिया है, और उसके व्यक्तित्व तथा स्वतंत्रता का संहार कर दिया है। जहाँ पर सहयोग की भावना पारस्परिक संबंधों का नियंत्रण करने वाली होनी चाहिये उसकी जगह इसने संघर्ष की भावना उभाड़ कर अंतर्राष्ट्रीय जटिलतायें उत्पन्न कर दी हैं और साम्राज्यवाद तथा उसकी सहगामिनी औद्योगिकता तथा सामाजिकता की आग सुलगा दी है। इसने काल और दूरी का बंध काट डाला है, और संसार के देशों को समीप पहुंचा दिया है किन्तु प्रत्येक राष्ट्र को एक दूसरे से अलग काट फेंका है। इसने शरीर का तो मेल करा दिया है किन्तु लोगों के हृदयों और आत्माओं को चीर कर बिल्कुल अलग कर दिया है।

ठीक समय पर किए हुए ठीक तरीके से हम लक्ष्य के अधिक नजदीक पहुंचते हैं, किन्तु गलत तरीके से हम उद्देश्य-सिद्धि के रास्ते से दूर हो जाते हैं। हम पूंजीवाद से लड़ते हैं, और हमारे लिये यह ठीक भी है। आज कल भारत में जो पूँजीवाद है वह अधिकतर पाश्चात्य व्यवसाय के कारण उत्पन्न हुआ है जिसके पीछे पाश्चात्य शक्तियों की फौजी ताकत डटी रहती है। जिन उपायों से हम भारतीय पूंजीवाद पर आक्रमण करते हैं, उन उपायों से हम लोगों के आक्रमण की प्रति-क्रिया उसकी आड़ में पड़े विदेशियों के अधिक व्यापक हितों पर असर डालती है, इसलिये हम विदेशी शासक को अपना शत्रु बनाते हैं और भारत के धनिकों को विदेशियों से सहयोग करने के लिये मार्ग खोलते हैं। हम, प्रत्यक्ष रूप से भारी विदेशी पंजीपतियों और तुच्छ भारतीय व्यापारियों का अधम गुट्ट बनने देने के लिये प्रोत्साहन देते हैं जिससे वे संयुक्त रूप से समाजवादियों और स्वराज्यवादियों, सभी को एक साथ कुचल डालें, जो समय पर गरीबी के हितचिन्तक बन कर आते हैं जब गरीबों को विदेशी शासन के प्रभाव के बिल्कुल मिटने न सही तो तुरन्त कम होने से भी वास्तव में लाभ उठाने की आवश्यकता होती है। इस कारण हम लोगों के उपाय हमारे उद्देश्य में बाधा डालते हैं क्योंकि उससे तीसरे पक्ष का बल घटने के बजाय और बढ़ता है। इस कारण क्या समाजवादियों को इतना काफी समय और काफी बल नहीं रह सकता कि वे विदेशियों से मामला सुलझा चुकने के बाद भारतीय पूंजीवादियों के साथ मामलों का निबटारा करें? समाजवादी उपयुक्त समय आने पर सत्याग्रह का अनुसरण करें या सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष के समयोचित साधनों का अवलंब लें उनकी शक्ति अदम्य होगी।

हमें समाजवाद के आदर्श का भारतीयकरण करना चाहिये।

समाजवाद हितकर और दुर्दमनीय है। हम जमींदार की तृष्णा व उसकी सामंतशाही के चोचलों से समझौता नहीं कर सकते। हम वंश-जात उच्चता और हीनता का भेद अब बिल्कुल सहन नहीं कर सकते हम पंच-मांश जन संख्या को उनके सह-प्राणी शेष चार पंचमांश, जनसंख्या की दासता में रहने देना अब बिल्कुल गवारा नहीं कर सकते। हम शराब-खोरी का शैतान और अछूतपन का भूत मिटा कर ही छोड़ेंगे किन्तु उन गरीब अभागों के साल के सब दिनों भर पेट खाने का भी जरूर ही बन्दोबस्ती करेंगे। हमें देहातों की शिल्पकला और कारीगरी को प्रश्रय देना चाहिये यदि हम समाजवाद की ऊंची हांके मारें और अपनी जिन्दगी के प्रत्येक क्षण विदेशी कपड़ा खरीदें तो इससे अभागे गरीब को क्या मिल सकता है? हमें सहानुभूत और नारों की बौछार गरीबों पर अत्यधिक करने की आवश्यकता नहीं बल्कि उनको कुछ आने तथा कुछ पैसे तक भी कमाने में सहायता पहुंचा कर उनको जिन्दा रखना चाहिये। हमें एक बार अपनी निगाह पाश्चात्य देशों से पूर्व की ओर, संघर्ष की जगह सहयोग की ओर बल की जगह सौहार्द्र की ओर, पार्थिव पदार्थ से आत्मा की ओर, मशीन के चक्के से चरखे की ओर फेरनी चाहिये। ऐसा कर हम अपने देश के गरीबों की सेवा करने की अपनी सच्चाई का सबूत देंगे। गरीबों को वास्तविक सहायता पहुंचाने के लिये रोज बरोज के काम के लिये कोई कार्यक्रम बनाने पर समाजवादी को तुरन्त ही कामयाबी मिलेगी। "भूखों मरने वालों में क्रान्ति लहर पैदा करने के लिये उनकी मुसीबत को और बढ़ा दो।" यह प्रचलित उक्ति अनुचित है, हृदय-हीन होने की बात तो अलग ही है। इस कारण समाजवादियों द्वारा खद्दर और ग्राम्य शिल्पकला के विरुद्ध प्रचार और लोगों को मिलों के बनें कपड़े और विदेशी कपड़ों के प्रयोग की सलाह देते देखना एक अफसोस की बात है।

"संसार के मजदूरों एक हो जाओ ? क्योंकि तुम्हारे पास खाने के लिये तुम्हारा बंधन छोड़ कुछ भी नहीं है" यह सिद्धांत अत्युत्तम है, किन्तु जब संसार के अर्द्धांश मजदूरों को औद्योगिक और आर्थिक अकाट्य बंधन में बांधने के लिये संयुक्त हो रहे हों तो हम उस पर क्या कहेंगे ? समाजवादियों का मतलब ठीक है, लेकिन वे ऐसा कोई काम न करें जिससे धनी तो और धनी बनते जायें और गरीब और अधिक गरीब। जनता के सहयोग बिना न तो समाजवादी ही कुछ कर सकते हैं और न कांग्रेसवादी। और सहयोग तो अंतःकरण में उत्पन्न विश्वास की भावना का बाह्य उद्गार है। बहुत दिनों की सेवा और आपदाओं के पश्चात् हम लोगों ने जनता के हृदय में जो थोड़ा विश्वास उत्पन्न कराया है उसे नष्ट करने के लिये हम कोई काम न करें। न ऊंचे नारों से पेट भर सकता है और न तो मत से, और देश की परम्परा तथा समाज की बुनियादों से, जिससे इसका लगाव हो, उचित रूप से मेल खिलाने पर समाजवाद का बल अदम्य होगा जब कि उसका कार्य-क्रम व्यावहारिक कार्य-क्रम हो जिससे इस अभागे देश के दुख और संकटों को वास्तविक रूप में दूर किया जा सके।

अध्याय २

समाजवाद से डरें क्यों ?

डर स्वतंत्रता का शत्रु है। यह कायरता की धात्री है और कायरता से अधमता और दासता का जन्म होता है। डर आदमी की कमज़ोरी भी बतलाता है और उसे दकियानूस बनाता है क्योंकि उस हालत में आदमी को अपने विश्वास का साहस नहीं हो सकता। इस हालत में आदमी यह अनुभव करेगा कि परिवर्तन को अवरोध होना चाहिये या उससे घृणा की जानी चाहिये क्योंकि उसके परिणामों से उसे भय लगा रहेगा। साहसी उन्नति के दूत रूप में समझ परिवर्तन का स्वागत करता है, यद्यपि सभी परिवर्तन उन्नति-शाली ही नहीं होते, किन्तु कोई भी उन्नति परिवर्तन के बिना नहीं हो सकती। और जो परिवर्तन से डरता है वह स्वाभावतया ही या तो जड़वत् स्थिर रहने या पीछे की ओर लौटने में, संतुष्ट रहता है। फिर भी दकियानूसी विचार का व्यक्ति भी अपनी परम्परा से बिल्कुल भाग नहीं सकता। किसी देश या सभ्यता की परम्परा बीते हुये भूत और सतत पीछे खिसकते आते हुये भविष्य के बीच की लड़ी होती है, उनमें हम लोगों के पूर्वजों के प्रचुर और अनुपम अनुभव निहित होते हैं किन्तु स्वयं परम्परा ही समय-समय में, युगों-युगों में परिवर्तित होती आई है। हम लोगों ने क्या अपने काल-चक्र के इतिहासों में युगों का चक्र, सतयग से लेकर कलियुग तक युगों का परिवर्तन, फिर इन युगों का भी बार-बार चक्र घूमने की बात नहीं पढ़ी है ? हाँ, समय के अंतर इतने लम्बे हैं कि आधुनिक युग के नापने की नन्हीं पटरी या नाप के नन्हें फीते से नहीं नापा जा सकता। इन युगों का

केवल एक चक्र वा महायुग ३८,६३,०३३ वर्ष का होता है, और अपनी परम्परा के अनुसार हम लोग सृष्टि के प्रारम्भ से १५ नील (१५,५५,२१,९५, ५८,८५,०३३) वर्ष और पाश्चात्य गणना के अनुसार पृथ्वी की आयु २०० करोड़ होने से इतने वर्ष बिता चुके हैं। यह मानना तनिक अतिशयोक्ति न होगी कि जीवन और समाज इतने करोड़ों, अरबों, खरबों (निर्बुदम्, अर्बुदम्) वर्ष तक अपरिवर्तित ही रहे ? अपनी ही जिन्दगी में एक दशक में हम लोगों ने ऐसे परिवर्तन देखे हैं, जिनमें पिछली उन्नति की गति के हिसाब से शताब्दियों लगे होते। अतएव विशाल अनन्त काल के इस एक अंश में संसार कितना बदला होगा ?

यदि सतयुग में क्रय, विक्रय नहीं होता था, लाभ-हानि नहीं थी, कोई न स्वामी था न कोई सेवक, न कहीं गरीबी थी और न कहीं अमीरी और उस आदर्श अवस्था से अवनत होकर हम लोग आज की इस अधोगति को प्राप्त हुए हैं तो क्या यह उचित प्रस्ताव नहीं है कि जिस प्रकार हम लोग कलयुग तक अवनत हुए हैं उसी प्रकार हम लोग एक दिन सतयुग में पहुँच जाने का गंभीरता से प्रत्यन करें। और इस तरह की उन्नति इस तरह का विकास समाजवाद की ओर बढ़ने के अतिरिक्त और क्या है ? समाजवाद शब्द के अभिप्राय को छोड़ कर इसका नाम ही लोगों ने अधिक बदनाम कर रक्खा है। कभी-कभी प्राचीन शब्दों के रूप में आधुनिक विचारों की व्याख्या करना आवश्यक होता है और नये के प्रति हमारा विराग उस समय मिट सकता है जब हम यह बातें जान लें कि जिसे हम नया कहते हैं वह वास्तव में पुरानी ही, परिचित ही वस्तुओं का भ्रम वश दिया हुआ दूसरा नाम है। इस कारण समाजवाद से घृणा नहीं करनी चाहिये, डर तो और भी नहीं करना चाहिए। हमें इस विषय पर देखना-भालना चाहिए और यह देखना

चाहिए कि, सब कुछ होने पर भी, क्या यह पूर्णतया निथरने पर उन गहरी भावनाओं को प्रतिध्वनित करता है जो हम लोगों के हृदयों में छिपी हुई पड़ी हैं, और वाह्य संसार के लिये यथेष्ट अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न करती वा उभड़ती रहती हैं। क्या हम अपने घरों में लूले, लँगड़े अंधे, गूंगे, बहरे, कोढ़ी तथा वृद्ध और पेशेवर भिखमंगों के रमते हुए झुंड को भी भीख नहीं देते? हमारे राष्ट्र में धर्मार्थ इतनी गहराई तक घर कर गया है कि किसी मँगते को दरवाजे पर से लौटा देना अभारतीय समझा जाता है और भारतीय घरों के दरवाजों पर दैनिक धर्मार्थ के कार्य रूप में उनकी सुचारू रूप से संचालित दीक्षा से बच्चे के मनोभाव संयमित और पोषित होते हैं। युगों की पुरानी, गंभीर और अत्यधिक प्रचलित इस राष्ट्रीय चलन के मूल में क्या है? यह हिन्दुओं की नित्य की प्रार्थना में आया हुआ पाठ ही है जिनके साथ भारतीय महाकाव्यों के पारायण की समाप्ति स्वस्ति वाक्यों से होती है—

लोकः समस्तताः सुखिनो भवंतु और सर्वे जनाः सुखिनो भवंतु! (अर्थात् सारी दुनिया सुखी होवे, सभी लोग सुखी होवें) विश्व-बंधुत्व की भावना, दूसरे मनुष्यों की कल्याण की विशेष चिंता इन भावनाओं से हिन्दुओं का सामाजिक ढाँचा परिचालित होता है और भारतीय समाज की नींव राष्ट्रीयता की जगह समाज-वाद ही है। अतएव यदि आज जब समाज धन और प्रभुत्व की तलाश में जितना अधिक अधोगति को पहुँच गया है उसे देखकर सुधारक अपने देशवासियों को उच्च कर्तव्य की सुधि दिलाते हैं जिनको वे भूल रहे हैं तो हमें उनमें किसी अज्ञात विपत्ति का भय नहीं होना चाहिए जिससे हम न कर सकते हों वा उनमें भयानक भूत का स्वप्न नहीं देखना चाहिए जिनसे भय लगे।

समाजवाद न तो कोई कवच है जिसे धनी गरीबों के हमले से अपनी रक्षा करने के लिये धारण किए रहता है और न भिक्षा-पात्र है जिसे ग़रीब धनी से सहायतार्थ मिलने वाले टुकड़े ग्रहण करने के लिये चारों ओर फिरता है। पाश्चात्य देशों में यह पूंजीशाही के विरुद्ध प्रतिक्रिया है जो कल-कारखानों के अभ्युदय द्वारा सामंतशाही की अवस्था को पहुंचने में समर्थ हो सकी हो। भारत में पाश्चात्य देशों की तरह पूंजीवाद का आक्रमण न हो सका होगा, किन्तु सामंतशाही का प्रभाव कम भयानक नहीं है। भारतीय सभ्यता, जो युगों से सम्पत्ति और प्रभुता के यथेष्ट समतुलित नियन्त्रण द्वारा प्रतिपालित होती आई थी, और बेकारी का प्रश्न सफलता पूर्वक मिटाती आई थी, दो हजार वर्षों के विदेशी शासन और पाश्चात्य सभ्यता के यांत्रिक बल पर आधारित औद्योगिक वाद के चरम उत्कर्ष के समय में उसके दो शताब्दियों के सम्पर्क से हम देशवासी विचारशील स्त्री-पुरुषों के सामने इतनी गम्भीर समस्यायें आ खड़ी हुई जितनी किसी भी पूंजीवादी देश के बिल्कुल सामने खड़ी हों। इसके कारण चाहे जो हों—और वे अत्यधिक हैं भी—हम लोगों के सामने खड़ी हुई अर्थशास्त्र की समस्यायें एक भौतिकवादी सभ्यता की सभी जटिलतायें और समाज के कमजोर सामाजिक-धार्मिक आधारों की बुराइयां प्रकट करती हैं।

भौतिकवादी सभ्यता के विचित्र आदर्श ही समाज के अधः-पतन के पर्याप्त कारण हैं। वे ही बीज हैं जो भूमि पर बिखेर दिये गये हैं। यह भूमि किस प्रकार अनुकूल बनाई गई है और प्रथमतः यह क्या है ? प्राचीन सामाजिक-धार्मिक मूल सिद्धांतों के समाज पर क्षीण प्रभाव होने से ही उपयुक्त भूमि तैयार हुई है, जिससे समाज के स्वाभाविक नेता लुप्त हो गये हैं

जो इसके निर्णायक अंगों को भले या बुरे के लिये प्रभावित कर सकते थे। यह नेतृत्व चुपचाप और अनजाने ही पाश्चात्य शासकों के हाथ चला गया है, जिन्हें भारत की आवश्यकतायें समझने का न तो अवसर है और न संभावना अथवा व्यापारिक वस्तुओं की उपयुक्तता समझ कर वे उन्हें इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मुहैया कर रहे हैं। इस कारण भारत में लोगों की और विशेष कर पाश्चात्य शिक्षा पाये हुओं की मानसिक अवस्था जो भारत के मध्य श्रेणी के लोगों के लिये पाश्चात्य सभ्यता के भौतिकवादी आदर्शों द्वारा उत्पन्न की गई है, धन की चाह और तृष्णा के लिये उपयुक्त भूमि बन गई। जब बीज और भूमि एक दूसरे के अनुकूल बन गये और मौसम भी ठीक हुआ तो उसका परिणाम भरपूर उपज हुई—वह उपज सम्पत्ति और प्रभुत्व के बीच यथेष्ट समतुलित देशी सद्गुणों की नहीं, प्रत्युत दोनों के केन्द्रीभूत करने के विदेशी आदर्शों की हुई। इस तरह सम्पत्ति समाज की अधिष्ठात्री बन गई और सेवा जीवन की मुख्य और संचालन शक्ति नहीं रह गई। अतएव जब समाजवादी, पश्चिम की प्रबल धाराओं में पड़ कर, भाग्यलक्ष्मी को समान बनाने और संसार की भली और बुरी चीजों के भारी भेद को मिटाने के लिये उत्पन्न आदर्शों को सामने रखता है, उनका पालन करता है तो भारत के अँग्रेजी शिक्षा-प्राप्त श्रीमंत और उनके साथ ही भारत के खास और पुराने धनवान भी भौचक्के हो जाते हैं और हाथ ऊँचा कर बेचारे गरीब सुधारकों पर सरकार की क्रूर दृष्टि डलवाते हैं जिनका आदर्श गलत नहीं ठहराया जा सकता। उन्होंने सफलता प्राप्ति के लिए जो मार्ग ग्रहण किया है व करने का विचार रखते हैं, उनके विषय में चाहे जो किया जाय।

अतएव हम लोगों को क्या करना चाहिये? क्या हम हाथ

पर हाथ रक्खे उन व्यक्तियों पर अभिशाप की वर्षा करते बैठे रहें जो समाज से अधिक न्यायपूर्ण और उचित आधार के उत्साही समर्थक हैं, जो सम्भवतः भूल के रास्ते पर ही हैं। व हम अपने वंश परम्परा की सीमा तोड़ेंगे, अपने समाज की बुनियाद की दुबारा जांच-पड़ताल करेंगे, और एक बार फिर अपने प्राचीन और जर्जर सिद्धान्तों को परिवर्तित और सदा परिवर्तित होती रहने वाली आधुनिक परिस्थितियों के अनकूल बनायेंगे ? हम लोगों का ऐसे काम में पड़ना स्थाई सिद्धान्तों पर भारत के पुनर्निमाण में सहायक होगा। दूसरे शब्दों में भविष्य यह माँग रखता है कि वर्तमान को वातारण के अनुकूल बनाया जाय। ऐसी अनुकूलता लाने के लिये आवश्यक है कि विश्वास में उदारता रक्खी जाय, परिवर्तन और नए विचारों के स्वागत की सामर्थ्य हो। ये वास्तव में भूतकाल की दुबारा खोज हो सकते हैं, किन्तु ऐसा भूत जो वर्तमान और भविष्य से मेल खाता हो। यदि हम शब्द बदल दें और इसे अधिक साफ कर कहें तो इस समय की आवश्यकता है—समाजवाद के सिद्धान्तों की शान्त-रूप से खोज। वह इस दृष्टि से नहीं कि विदेशों के संकेत वाक्यों वा नारों की पूरी तरह नकल की जाय, बल्कि डा० भगवानदास के कथनानुसार "आधुनिक समस्याओं के लिये प्राचीन सुलझाव व हल" ढूँढ़ निकाले जांय और भारत का भाग्य-निर्माण भारतीय ढङ्ग से किया जाय।

अध्याय ३

निरोधक और प्रतिकारक समाजवाद

समाज एक संगठन है और सभी जीवधारियों की तरह इसके पौष्टिक खाद्य के रासायनिक परिवर्तन का इस पर प्रभाव पड़ता है। अतएव मानव-शरीर की रचना और कार्यों की तरह सामाजिक अवस्था में भी परिवर्तन होता ही रहना चाहिये। यह परिवर्तन आंतरिक व बाह्य हो सकता है। आंतरिक परिवर्तन अंतर्ग्रहणशीलता से उत्पन्न हो सकता है और बाह्य परिवर्तन बाहरी वृद्धि के कारण। व्यवहारिक दुनिया की बोली के पहला परिवर्तन कोषाणु और मांशतन्तुओं के अबोधगम्य रूप से प्राकृतिक रूपान्तर होने से होता है और दूसरा बाहर के भीषण प्रभावों वा बहिरंग वृद्धि द्वारा। समाजवाद इस परिवर्तन को उपस्थित करने की ही कला और विज्ञान है। यह शायद आदर्श की अपेक्षा कला-चातुर्य ही है। किन्तु इसे कार्यकारी होने के लिये केवल चित्त की अवस्था वा केवल प्रवृत्ति से कुछ अधिक होना चाहिये, यद्यपि यह सफलता से कुछ उतर कर ही होगा। समाजवाद का स्वाभाविक परिणाम साम्यवाद है जो इस दशा में उचित और आवश्यक भी है। किन्तु यह क्रांति का मार्ग पकड़े बिना सफलता नहीं प्राप्त कर सकता जिसका कांग्रेस ने निषेध कर दिया है। समाजवाद साधारणतया भक्तिप्रदर्शन है जो दुर्गुण सद्गुण के प्रति करता है इसी कारण दुर्गुणी धनिक अपने प्रचार-कार्य के लिये सद्गुणी दीनों को समय समय पर सहायता पहुंचाते हैं अतएव समाजवाद, जो न तो एक व्यवहारिक उग्र कार्य-क्रम है और न समाज

के वर्ग-भेदों के ताने के साथ समानता के बाने की स्थिर बुनावट है, प्रारम्भिक सिद्धान्तों को असफल रूप से पुनः कथन करने वाला रहेगा, जो क्रान्ति की कठोर शक्ति द्वारा जनता पर लादे जाते हैं जैसा कि रूस में हुआ है वा जिनसे सुव्यवस्थित परम्परा के अचूक प्रभाव द्वारा एक सुचारु सामाजिक व्यवस्था के आधार और मूल की स्थापना हुई है जैसा भारत में हुआ है। अतएव यह हम लोगों को निश्चय करना है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को प्रबल भौतिक साधनों द्वारा परिवर्तित करें वा अप्रभावात्मक बौद्धिक खिलवाड़ों द्वारा अथवा नैतिक आभ्यन्तरिक परिवर्तन वाले मार्ग द्वारा। कांग्रेस ने पहिले मार्ग को अस्वीकार कर दिया है, और यही आज के समाजवादियों ने भी किया है। दूसरा मार्ग अच्छा है, किन्तु यह अधिक कार्यकर नहीं। इसलिए हमें तीसरे मार्ग की ओर ध्यान देना चाहिये। अपनी सामाजिक व्यवस्था का नए रूप से अध्ययन करना चाहिए और अपनी उन्नति का मार्ग निकालना चाहिए जिससे सब को भोजन, वस्त्र और अवकाश मिलने का निश्चय हो सके।

समाजवादियों को क्या अध्ययन करना चाहिये ?

हम एक बार फिर इस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं कि राष्ट्रीय उन्नति के सभी आन्दोलनों का मूल उसके चारों ओर के वातावरण में होता है और प्रत्यक्ष रूप से उसी में पाया जा सकता है। यही उनकी रीढ़ होती है। सुधारक और क्रान्तिकारियों के लिए यही तथ्य होता है जिस पर वे पुनर्निर्माण के आन्दोलन की बुनियाद डालते हैं। जब वे भूतकाल की सभी अच्छी, श्रेष्ठ और हितकर बातों को स्थिर रखना चाहते हैं तो पुनरुद्धार का आन्दोलन संचालित करते हैं; इसके विपरीत जब वे राष्ट्रीय परम्परा की सभी बुरी, अधम और हानिकर बातों को

मिटाना चाहते हैं तो क्रान्ति का आयोजन करते हैं। इसलिए जब आधुनिक काल का समाजवादी समाज की इमारत का बिल्कुल नया नक़शा बनाने की आवश्यकता पर जोर देता है तो उनसे कुछ कम उत्साह रखने वाले, और अधिक गंभीर व्यक्ति यह पूछने का अधिकार रखते हैं कि प्रस्तावित परिवर्तन वर्तमान अवस्थाओं के भले और बुरे पहलुओं पर उचित विचार कर रक्खे गए हैं वा नहीं और जो भूत और वर्तमान, पूर्वी और पश्चिमी, तथा राष्ट्रीय और सार्वदेशिक में जो आवश्यक रूप से विरोध रह सकता है उनके मेल खिलाने के प्रयत्न के लिए समझौता करते हैं वा नहीं। इस प्रकार सब समाजवादियों को अपने आन्दोलन और मांगों की पुष्टि उन तथ्यों का केवल यथेष्ट ही नहीं बल्कि सहानुभूति पूर्वक अध्ययन द्वारा करना चाहिये जो उनकी पृष्ठ-भूमि बनाती हैं किन्तु स्वयंचित्र का सुचारु रूप से चित्रण होना चाहिए।

स्वावलंबन के इस आदर्श को समझने के लिए हम लोगों के लिये यह आवश्यक है कि क्षण भर के लिए हिन्द समाज की रचना और कार्य की देख भाल करें और देखें कि यह जिन आधारों और संरक्षणों द्वारा अपने सभी सदस्यों को भोजन और वस्त्र देने का जिम्मा लेता था वे किस बेरहमी से बर्बाद किए गए हैं। आज हम भारत को प्रादेशिक, जातिगत और पेशेवर टुकड़ों में विभाजित किया हुआ देखते हैं। राष्ट्र को प्रान्तों के विरुद्ध, हिन्दुओं को मुसलमानों, सिक्खों ईसाइयों और भारत में आकर बस गई दूसरी जातियों के विरुद्ध, शहरों को देहातों के विरुद्ध और शहराती मजदूरों को देहाती श्रमिकों के विरुद्ध खड़ा कर दिया गया है। किन्तु इस पुरातन भूमि के साथ की गई भेद डालने वाली दुष्टताओं में तो यह सब से मामूली है। समाज की तो नींव ही अबोधगम्य रूप से नष्ट कर डाली गई है। जर्मनी का उदाहरण देकर आत्म स्वावलंबन की चर्चा चलाना एक शौक की

बात हो गई है। प्रान्तों के कुछ गवर्नरों से धीमी आवाज़ में ऐसी बात उठाना प्रारंभ किया है, किन्तु इसका अनुभव नहीं किया गया है कि स्वावलंबन ही शताब्दियों से भारतीय समाज की बुनियाद बनाई गई रही है, गांव राष्ट्रीय जीवन की इकाई रूप में था—वह गांव किस रूप का ? गांव ऐसा रक्खा गया है जिसमें जीवन को पूर्ण और सुखी बनाने वाले सभी पेशों की भरती की गई है। जीवन की आवश्यकता और मनोहारिता के लिए जिन पेशों और शिल्पों की आवश्यकता होती है उन सब के आदमी गावों में पाए जाते हैं। किन्तु जीवन की मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति का जिम्मा लेने वाले और बेकारी के दूर करने के अचूक साधन वाले इस रूप के मनोहर गांव पश्चिम की सस्ती और नकली भड़कीली चीजों से खुली हुई खुदरा और थोक बिक्री की दूकानों वा देश के कोने-कोने में भरे हुए फेरी लगा कर बेचने वालों द्वारा पाश्चात्य सभ्यता के स्पर्श मात्र से नष्ट हो गए हैं। सारांश यह कि गांव के नाई ने जर्मनी का उस्तरा इस्तेमाल कर और गांव के बढ़ई ने विदेश से आई कीलों का इस्तेमाल कर गांव के लुहार की रोज़ी मारी है। लुहार ने विदेशी कपड़ा पहन कर जुलाहे की रोज़ी बर्बाद कर दी है। जुलाहे ने जापान का बना जूता पहन कर मोची की और मोची ने कलई की हुई तश्तरियां और प्यालियां इस्तेमाल कर कुम्हार का व्यवसाय नष्ट किया है, कुम्हार ने अपने कपड़े धुलाई की दूकान में धुलवा कर धोबी का धंधा चौपट कर दिया है। इस प्रकार प्रत्येक अपने पड़ोसी की रोज़ी मारता है, और गांव अपने जवार के दूसरे गांव को बर्बाद करता है, जब इस तरह गांव बर्बाद हो गया है तो ग्राम्य वा नागरिक आत्म निर्भरता नहीं रह सकती, केवल राष्ट्रीय अयोग्यता और सर्वत्र व्याप्त बेकारी ही रह सकती है,—ये समस्याएं हैं जो आज के समाजवादियों के सम्मुख आ खड़ी हुई हैं। ये ऐसी समस्याएं हैं जो

पाश्चात्य देशों में औद्योगिकवाद और सैनिकवाद की तीव्र बढ़ती के कारण, जिनका अंतिम परिमाण योरप के महायुद्ध हैं, कठिन और बिल्कुल असाध्य सी हो गयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामूहिक उपकार और सार्वजनिक हित ही हिन्दू समाज की बुनियाद थे। एक प्रकार के इस साम्यवाद के स्थान की व्यवस्था व्यक्तिवाद ने ले लिया जो वास्तविक रूप में शोषक पूँजीवाद का आधार है। यथार्थ में यह आर्थिक अराजकता है यद्यपि इसे "साझे की पूंजी का व्यवसाय" का नाम दिया जाता है। भारी व्यवसाय की पद्धति वास्तव में व्यक्तिवाद की जड़ से है। यहां पर हम ६ मार्च, १६३८ के "सोशल आर्डर" की निम्नांकित टिप्पणी कृतज्ञता प्रकाश किए बिना ही उद्धृत करते हैं :—

"व्यक्तिवाद का सिद्धान्त, जिसके प्रसार से आर्थिक जगत में इतनी मुसीबत आ खड़ी हुई है, अठारहवीं सदी में औद्योगिक क्रान्ति के उभड़ते जाने पर विशेष रूप से प्रबल हुआ था। यह सिद्धान्त आधुनिक पूंजीवाद का आधार है। इसके समर्थक आर्थिक क्षेत्र में प्रकृति और मानव स्वतन्त्रता के पूर्ण अबाध प्रभुत्व का समर्थन करते हैं। वे चीजों के उत्पादन और वितरण के संगठनों पर से सरकार का हस्तक्षेप दूर करते हैं।

'व्यक्तिवादियों का कथन है कि कानून का उद्देश्य सामाजिक जीवन का विकास सम्भव कर सकने वाली अवस्थाएं उपस्थित कर देना है और ये सम्पत्ति पर अवलंबित होती हैं, वह व्यापार में लगाई गई हो वा उद्योग-धंधे में। इस तरह 'मानव अधिकारों' के ऊपर 'साम्पत्तिक अधिकारों के आग्रह का जन्म होता है। व्यापार और उद्योग-धंधे से मनुष्य मनुष्य का संबंध उत्पन्न होता है। अतएव सरकार का एक बहुत बड़ा प्रयत्न इक़रारनामों की स्वतन्त्रता रक्षित करना होना चाहिए जिसके द्वारा सम्पत्ति के

अधिकार की अदला-बदली होती है इकरारनामे की स्वतन्त्रता का जिम्मा ले लेने पर सरकार के कर्तव्य का अंत हो जाता है। इसके बाहर मनुष्यों को अपने हितों और तीव्र लिप्सा की पूर्ण पूर्ति करने का अधिकार है, इसके लिये भले ही मजदूरों को कम मजदूरी दी जाय, उनसे बहुत अधिक काम लिया ज य और उन पर अत्याचार किया जाय।

"व्यक्तिवाद का जन्म औद्योगिक जीवन में रूसो के इस मिथ्या सिद्धान्त के उपयोग से हुआ कि मनुष्य प्रधानतया निर्दोष पैदा होता है किन्तु उसे अपने स्वभाव की प्रवृत्ति का अनुसरण करना पड़ता है। इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पीड़न, अमानुषिक मज़दूरी की अवस्थायें बच्चों से मज़दूरी, इन सब के अच्छे कामों में गिन्ती की जा सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रतिद्वन्दिता के कारण उद्योग-धन्धे में बिल्कुल अराजकता, 'जीवन के लिये संघर्ष' और 'प्रबलतम् के ही जीवित रह जाने' के डारविन के सिद्धान्तों का बोल बाला रह जाता है। इस सिद्धान्त की ओट में मनुष्य अपनी अत्यधिक पवित्र जिम्मेदारियों से भी भाग जाता है। व्यक्तिवाद ने व्यक्तियों को अपनी शक्ति बढ़ाने, भारी सम्पत्ति बटोरने, मजदूरों का शोषण करने, कमजोर राष्ट्रों को चूसने का पूर्ण अवसर दिया, बशर्ते केवल इतना ही कि इक़रारनामें, मज़दूरी के इक़रारनामें भी, स्वतन्त्रता पूर्वक किए जाँय और क़ानूनी रूप में बर्ते जायं।

"जैसा की प्रसिद्ध समाजवादी हुसेलीन अपनी सामाजिक घोषित विज्ञप्ति में अवस्था का चित्रण, करते हैं" चीजें बनाओ, माल तैयार करो, कल कारखानों के सभी धुरों को चला दो विक्रय क्षेत्र बढ़ा दो, अपना राष्ट्र धनी करो, खूब कमाओ, कमाओ, कमाओ, जितना ही अधिक उतना ही अच्छा!" यही उस समय

के आर्थिक सिद्धान्तों के नारे थे। मज़दूरों की मज़दूरी घटा दो, उनके काम करने के घन्टे बढ़ा दो, नौकरी की मांग के कारण जो कुछ मिलना संभव हो वह पैदा करो मां बहिनों को घसीट लाओ, बच्चों को भी कलों में लगा दो ताकि उनकी उंगलियां धन पैदा करने में बभी रहने का अभ्यास कर लें। स्वर्ग में कोई देवता नहीं, यदि वे हों भी तो तुमको अपने दिल में पछतावा न होना चाहिये। तुम अपने लिए उचित रूप से धन संग्रह करते हुए वास्तव में कोई अत्याधिक उत्तम रूप से राष्ट्र की संपत्ति बढ़ा रहे हो। जितना ही बढ़े उतना ही अच्छा है। तुम एक हितैषी हो। यह सब कुछ मज़दूरों के और तुम्हारे लिए सर्वोत्तम है। केवल इसी प्रकार हम पूर्ण सामाजिक सामंजस्य उपस्थित कर सकते हैं मज़दूरों की कोई समस्या नहीं है।"

"यह चाल चल गई और जब इंगलैंड में मज़दूर-दल ने कुछ कुलबुलाहट की, आवाज़ उठाई तो उसके सामने टुकड़े फेंक कर उसे शान्त कर दिया गया। इसके बाद वे सस्ता कच्चा माल और "अबाध विक्रय क्षेत्र" के लिए विदेशों की खोज करने लगे और साम्राज्यवाद का जन्म हुआ। अब शोषण सुगम हो गया क्योंकि दूरदराज के "देशवासियों" की विपत्तियों को चतुरता पूर्वक छिपा कर इंगलैंड के जीवन यापन का ढंग सुन्दर किया गया। यह सब कुछ इस व्यक्तिवाद के सिद्धान्त की ओट में ही किया गया।"

हमें इस स्वार्थपरता व आत्मचिन्ता के संकुचित सिद्धांत से ऊपर उठना होगा और सर्व-हित के ऊंचे आदर्श का प्रचार करना होगा। इसके लिए हम लोगों को समाज और सरकार दोनों से समान रूप से लड़ना होगा। यद्यपि हम समाज और सरकार को दो पृथक वस्तुओं के रूप में समझते हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि समाज पर नैतिक और भौतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप में विदेशी सरकार का प्रभुत्व होने से वास्तव में

एक ही शक्ति का सामना करना है। हम लोगों ने समाज का विश्वास खो दिया है जो विदेशी आदर्शों पर परिवर्तित हो गया है और जनता का विश्वास प्राप्त कर सकना इसलिये बहुत कठिन हो गया है कि एक स्वार्थी सरकार यह कह कर बराबर प्रचार कार्य कर रही है कि जनता को हितचिन्तक है और वह कांग्रेस को गैर-जिम्मेदार और स्वार्थपरायण शिक्षित वर्ग को बनाई हुई संस्था कह कर उनकी निन्दा करती है तथा अंततः कठिन तथा निःस्वार्थ जनता की सेवा करने वाले समाजवादी कार्यकर्ताओं को रूस के बोलशेविकों का दलाल वेतन भोगी दास कह कर तिरस्कृत करती है। एक विदेशी शासन के आधीन सामाजिक सुधार का काम करना भी संदेह-जनक समझा जाता है क्योंकि यह एक विरोध की भावना जागृत करता है जो किसी भी समय समाज की सीमा पार कर राजनीति तक पहुंच सकती है। इस प्रकार एक ओर भयभीत सरकार तथा अर्द्ध शिक्षित और राष्ट्रीय बने हुए मध्यम श्रेणी के शिक्षित वर्ग के बीच भूतकाल की परम्परा का गम्भीर अध्ययन असंभव और अव्यावहारिक हो गया है। यह मानव स्वभाव की साधारण दुर्बलता है कि वह मूर्खता पूर्वक और करुणाजनक रूप से प्राचीनता से चिपके रहना चाहता है व जब प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है तो वह दूसरी ओर लुढ़क जाता है और नए के पक्ष समर्थन में सभी पुरानी बातों का बिल्कुल विरोध करता है।

यह बात हमें रूस में दिखाई पड़ रही है। रूस ने ज़ार और उसके परिवार को वध कर १६१७ की क्रान्ति के बाद जो आत्मोद्धार का कार्य प्रारम्भ किया और नई योजनाओं तथा कार्य-क्रमों का दो दशकों से प्रयोग कर रहा है उसे देख कर नई पीढ़ी के लोगों में उसके प्रति प्रशंसा और विस्मय के भाव उत्पन्न हो रहे

हैं, इस कारण उनमें जहाँ-तहाँ बेढंगे तौर पर आँख मूंद कर उन बातों की नक़ल करने की भावना जाग रही है। किन्तु समय बीतने पर और हम लोगों के समय में ही निरंकुश शासन से साम्यवाद की ओर झूला हुआ लटकन, जिसमें जायदाद, परिवार और धर्म को बहिष्कार किया गया था, अब मध्य मार्ग पर आ गया है, जिसमें प्रजातन्त्र के प्रचलित सिद्धान्तों ने, जिसमें उभय धारा-सभाओं, व्यक्तिगत जायदाद और नियंत्रित मताधिकार की व्यवस्था रहती है, श्रमिकों के अल्पजीवी अधिनायकत्व और उसके सभी रहस्यमय तथा अरुचिकर लक्षणों का स्थान ग्रहण कर लिया है। जब एक परिवर्तन उपस्थित करने का विचार रक्खा जाता है या जब वह व्यवहृत सुधार रूप में उपस्थित किया जाता है तो हम लोगों में इतना धैर्य नहीं रहता कि प्रस्तावित सुधार सुव्यवस्थित ढांचे में किस हद तक अनुकूल पड़ेंगे। चलन व संस्था जो प्राचीन समय से कितनी भी मान्य हो, वा परम्परा द्वारा कितनी ही अधिक मर्यादित हो, परिवर्तनशील काल के विचार प्रवाह की चुनौती रोकने में समर्थ नहीं हो सकती। कोई भी परिवर्तन चाहे कितना आकर्षक हो, प्रतिवाद के बिना ग्रहण नहीं किया जा सकता। ये केवल मीठी बातें हैं किन्तु मीठी बातों में भी सत्य निहित होता है जो जीवन-व्यापार में मार्ग दर्शक का काम कर सकता है। इसी कारण भारत को आज इन दो रास्तों में से एक चुनने के लिये कहा जा रहा है, एक ओर तो पिछली डेढ़ शताब्दियों की औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न दूषणों के प्रतिकार के लिये पाश्चात्य देशों में संयोजित ढङ्ग और साधन हैं, दूसरी ओर आधुनिक समस्याओं के प्राचीन सुलझाव की सहानुभूति पूर्वक समयोचित छानबीन है जिसमें यह मनोरञ्जक तथ्य बराबर ध्यान में रखना है कि कोई भी प्राचीन सुलझाव केवल इसलिये व्यक्त न किया जाय कि वह प्राचीन है और

कोई भी आधुनिक समस्या इसी कारण असाध्य न समझ ली जाय। जब हम इस कर्त्तव्य के पालन में लग जायंगे जो उतना ही कठिन है जितना भव्य है तो हम केवल रोग को अच्छा करने के स्थान पर उसके विरोध करने के उपायों का दृढ़ता पूर्वक प्रयत्न करेंगे। रोग को अच्छा करना (प्रतिकार) अच्छा है किन्तु उसका निरोध करना (रोक देना, होने ही न देना) उससे भी अच्छा है, वह रोग चाहे प्राणियों के शरीर में हो वा राजनीति रूपी शरीर में। और इन्हीं भावनाओं को लेकर हम उन सिद्धान्तों के अध्ययन का आग्रह करते हैं जिनसे हिन्दू-समाज की बनावट और कार्य नियंत्रित होते थे, हम युगों से प्रचलित उन साधनों का आग्रह करते हैं जिनके द्वारा उन्होंने धन का केन्द्रीकरण मिटा दिया था, दरिद्रता वे भले ही दूर न कर सके हों, और जिनके द्वारा उन्होंने बेकारी भी बिल्कुल दूर कर दी थी, कम मज़दूरी पर काम लेने को वे भले ही न रोक सके हों।

——— ——

अध्याय ४

एक दिवालिया सभ्यता

स्थूल रूप से देखने पर संसार की सभ्यताओं का अध्ययन दो भेदों में हो सकता है—एक गो सम्पत्ति के आधार पर स्थापित, दूसरी संस्कृति और विद्या के आधार पर स्थित। यह साधारण कहा जाता है कि धन की देवी लक्ष्मी चंचला है किन्तु विद्या की देवी सरस्वती वैसी नहीं। भारतीय परम्परा में लक्ष्मी और सरस्वती का सतत द्वन्द युगों से व्याप्त चला आया है। और यथार्थ में यही द्वन्द भारतीय सभ्यता का आधार बनाया गया है। यहाँ पर लक्ष्मी और सरस्वती को पृथक-पृथक माना गया है और इनकी शक्ति का संतुलन विभागतः रूप से किया गया है। इस प्रकार प्रतिपालित सभ्यता पर पश्चिम से आई हुई दूसरी सहयोगिनी सभ्यता का प्रहार हुआ जो सम्पत्ति के उद्-भव के आधार पर स्थित है और विद्या जिसकी अनुसेविका मानी गई है और उसकी प्राप्ति में साधन रूप व्यवहृत की जाती है।

भूतकाल में भारतीय सभ्यता पर अनेक और भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रहार हुए किन्तु उनमें से अंतिम इतनी मर्मभेदी और दुर्दम रही है कि यह प्राचीन सभ्यता अपनी रक्षा मात्र के लिये बर्बस उसकी आज्ञानुर्त्तिनी हो गई। भारत ने अनेक भीषण प्रहारों का सामना किया है और अनेक आक्रमणों को सह कर भी जीवित रह गया है। किन्तु सुगमता ही इन सब आक्र-मणों का सबसे विकट रूप, जिसका इसके व्यक्तित्व पर प्रायः घातक रूप का प्रभाव पड़ा है, उस अबोधगम्य, किसी के कथना-

नुसार विश्वासघाती भी, प्रहार में देखा जा सकता है। जो इसकी प्राचीन संस्कृति, इसके नागरिक नियम, और सामाजिक संस्थाओं पर—वस्तुतः इसकी नींव पर ही हुआ है। जिस पर भारतीय सभ्यता का अत्यधिक जटिल ढांचा निर्मित हुआ है। ध्वंस रूप में पड़ी किसी सभ्यता का सहानुभूति पूर्वक अध्ययन का धैर्य व उदारता किसी आलोचक में नहीं हो सकता और जब सहानुभूति नहीं रह जाती, तो समझदारी चली जाती है, और इन दोनों के अभाव में की गई आलोचना अवश्य ही पक्षपात और विचार के पूर्व किए निर्णय पर अवलम्बित होगी। जो संस्थाएं सहस्रों वर्ष पुरानी हो गई हैं, जो ऐसी परिस्थितियों में फली-फूली थीं जो अब नहीं रह गई हैं, उन सबका कोई पक्ष-समर्थन नहीं कर सकता। फिर भी यदि वे संस्थायें परिवर्तनों के चपेट में पड़ जाती हैं तो उनकी लक्ष्य की हुई उन्नति उस दशा में व्यवस्थित और सहायक हो सकती है जब कि प्रत्येक काल और प्रत्येक युग में ऐसे विद्वान और ज्ञानी पैदा होते जायँ जो प्राचीन संस्थाओं की उत्तरकालीन रूप में व्याख्या कर सकें जिन पर एक बार उनका स्थापन हुआ था।

हमें अपनी प्राचीन सभ्यता की इस बहुमूल्य पोथी के निर्मायक अनेक पृष्ठों का शीघ्रता से पूर्ण अनुसंधान करना चाहिये। हमें उनका अध्ययन एक सैलानी व इतिहासवेत्ता की तरह नहीं, बल्कि मनोविज्ञान के एक विद्यार्थी की भांति करना चाहिए, क्योंकि केवल उसी दशा में हम भारत में समय समय पर प्रचलित शासन प्रणालियों के रूप और भारतीय समाज की बनावट तथा उसके आदर्शों और महत्वाकांक्षाओं के मध्य विद्यमान वास्तविक साम्यनिरूपण देख सकेंगे। यह राष्ट्र के लिए और भी आवश्यक है जब कि वर्तमान अवस्थाओं के अनुकूल करने के लिए प्राचीन सभ्यता के सुधारने तथा कायापलट करने का भी सब कुछ प्रयत्न

किया जा रहा है। किन्तु यह कार्य दुष्कर हो रहा है क्योंकि एक के बाद एक आक्रमणों के धक्के ने "देश को इतना जर्जर, बेडौल बना डाला है कि उसके सच्चे और यथार्थ रूप का अनुभव बड़ी कठिनाई से होता है।" दूसरी कठिनाई भारतीय राजनीति के तथ्यों का विश्लेषण करने के लिये पाश्चात्य देशों के गढ़े हुए राजनीतिक सिद्धान्तों और पाश्चात्य संज्ञाओं और सूत्रों के प्रयोग से बचने में है। जिस सभ्यता को एक ओर अपने ही एक पंचमांश निवासियों द्वारा गृहीत दूसरी सहयोगिनी संस्कृति से मेल बैठाने के लिए अपने को अनुकूल करने में लगना पड़े और दूसरी ओर राष्ट्र के आधीन अपनी जनसंख्या के चतुर्थांश और उतनी ही संख्या के अछूतों के मध्य अपनी आंतरिक अवस्था में ही साम्यनिरूपण करने की जरूरत हो उसके अंतरवर्ती तथ्यों का इस प्रकार विश्लेषण करने का कम इसलिये और भी जटिल होता जाता है। कि उसके सामने एक विदेशी सरकार है जो इन अवस्थाओं से उत्पन्न अनेक विरोधों को शान्त करने के स्थान पर उनको और उभाड़ती ही है। किन्तु "यदि सब लोगों के लिये ग्राह्य और सबको प्रोत्साहन देने वाले सूत्र की योजना करनी है" तो इस काम में हाथ डालना ही होगा इस कारण इस सम्बन्ध में निम्नांकित उचित प्रश्न को संगत रूप से हम लोगों के सामने रक्खा जा सकता है जिसका उत्तर हम लोगों को अवश्य ही देना होगा:—"भारतीय राष्ट्रीयता पाश्चात्य सभ्यता के पक्ष समर्थन रूप है वा विरोध रूप?" भारतीय सरकार को भारतीय संस्कृतियों के विनाश में सहायक होना चाहिये वा उसे रोकना चाहिये? हिन्दुओं की कुलीन तंत्र सरीखी और मुसलमानों की ईश्वरतंत्र सरीखी शासन-पद्धतियों के मेल से प्रजातंत्र शासन-प्रणाली की रचना किस प्रकार होगी? इन प्रश्नों का उत्तर भारतीयों को ही देना होगा और इस प्रकार उत्तर देते

हुए उन्हें अपने लिए और संसार के लिए भारत की व्याख्या करनी होगी डा० कुन्हीं कैनन ने इन पृष्ठों में अपनी एक व्याख्या देने की कोशिश की है।

भारत को प्रायः एक देश नहीं कहा जाता, महाद्वीप कहा जाता है किन्तु देश और महाद्वीप में क्या भेद होता है? ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड ऐसे द्वीप कहे जाते हैं जो "महासमुद्र द्वारा संयुक्त हैं और समुद्र द्वारा पृथक हैं।" पिरेनीज और आल्प्स पर्वत स्पेन को फ्रांस से और इटली को उत्तर के देशों से पृथक करते हैं।" कारपेथियन, कोरिन्थियन पर्वत भी देशों के मध्य दीवाल रूप हैं। इन सब से योरप का महाद्वीप बना है जिनसे एक देश दूसरे से पृथक है। किन्तु भारत में इस प्रकार के दुर्गम पर्वत नहीं हैं। जो भारतीय संस्कृति और जीवन की एकता को बाधा पहुंचावें जब कि यहाँ की उत्पन्न छोटी छोटी जातियों ने एक भाषा को दूसरी भाषा से पृथक करने वाले डैश (—) लिखावट में पृथकता बताने वाले चिन्ह की जगह न काम कर उनको संयुक्त करने वाले हाइफन (-) लिखावट में शब्दों को जोड़ने वाले चिन्ह का काम किया। ये सब भूमि, जलवायु, उष्णता, और आर्द्रता की अनिवार्य दशाओं के कारण उत्पन्न हुई हैं। फिर भी संयुक्त परिवार, भारतीय गृहस्थी की रचना, वर्ण व्यवस्था तथा उसकी नियम-निष्ठा सम्बन्धी तथा प्रबल गुण, विशाल ग्रहण-शीलता युक्त हिन्दू धर्म, ग्राम्य संघ पर अवलंबित भारतीय राजनीतिक क्रम विकास जिसने व्यक्तिगत हितों का सार्वजनिक हित से साम्य-निरूपण किया है, पुरुषों की प्रति द्वन्दिनी नहीं प्रत्युत उनकी सहायिकता रूप में, हिन्दू समाज में स्त्रियों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति, सैनिकवादी संगठन के भाग रूप में नहीं, बल्कि सब के कल्याण और शान्ति को लक्ष्य बनाने वाले जीवन-क्रम के एक 'आवश्यक' भाग के रूप में भारत

का कुलीन वर्ष, पूर्ण व्यापकता के साथ भारतीय जीवन और समाज की कलात्मक भावना, जीवन में वृत्ति चलाने के लक्ष्य स्थल रूप में वा दृढ़ अनुशासन के फौजी संगठन रूप में नहीं जिसमें व्यक्तिगत प्रवीणता का कोई ध्यान नहीं दिया जाता, बल्कि विद्या के लिये ही विद्या का अनुशीलन तथा दरिद्रता जो आध्यात्मिक उन्नति के लिए सहायक रूप में मान कर अभिनंदित की जाती है तथा उस कारण उच्च और आदर्श जीवन—ये सभी भारतीय गृहस्थी और भारतीय राष्ट्रीय जीवन के प्रारम्भिक लक्षण माने गाये हैं। इन सब की पूर्णता और व्याख्या को गहरा धक्का लगा है। और यदि भूत को वर्तमान में विद्यमान रखना हो और वर्तमान को भविष्य का अग्रदूत बनाना हो तो इन सब विभिन्न संस्थाओं को पुनः पूर्णता प्राप्त कराने और उनकी पुनर्व्याख्या करने की बहुत ही अधिक आवश्यकता होगी।

सयुक्त परिवार की व्यवस्था भारती-समाज के लिये अत्यंत घृणा की वस्तु है। इससे जायदाद के टुकड़े पर टुकड़े बन जाते हैं, और इससे उत्पादन के उद्योग का दुरुपयोग होता है इससे धन का संचय नहीं हो पाता, बड़े पैमाने के कामों में बाधा डालती है, ये सब आरोप मुख्यतया इसके ऊपर लगाये जाते हैं। सम्भवतः आज ये एक रूप से सत्य हैं। किन्तु हमारा कर्तव्य इस व्यवस्था के मूल का अध्ययन करना है। यह विचित्र संगठन भारत में किस प्रकार उत्पन्न हुआ, और भारतीय सभ्यता का अत्यधिक आवश्यक अंग बन गया? उन दिनों भूमि प्रचुर थी और श्रम के साधन, काम करने वाले आदमी कम थे, किन्तु जीवन सादा था और आवश्यकताएं बहुत थोड़ी थीं। किराये की मजदूरी को लोग जानते ही न थे, और वह प्रकृति की उर्वरता तथा लोगों के सादे जीवन के कारण अप्रासंगिक बात थीं। श्रम ही पूँजी थी और संयुक्त परिवार के पुरुष ही श्रम के एक मात्र साधन थे। पूंजी के

संचय की आवश्यकता थी। अर्थात् संयुक्त परिवार को अखंड रखने की आवश्यकता थी, एक हद तक चीन में और कुछ अंश में आस्ट्रिया में यह व्यवस्था पाई जाती है। केवल पूर्वजों की उपासना, पारिवारिक देवता और एक रक्त के दृढ़ बंधन ही इस व्यवस्था को उत्पन्न करने वाले कारण नहीं थे। इस में संदेह नहीं कि इसमें उनका भी कुछ भाग था। आर्थिक पहलू को छोड़ कर इस समस्या का सामाजिक पहलू भी है। मानसिक कृति और स्वाभाव की उग्रता को मृदुल करने, युवाकाल की प्रचंडता पर नियंत्रण, दूसरों के सामने अपने को अप्रधान मानना, रोगियों और अशक्तों के लिये दयालुता—ये सामाजिक और नैतिक गुण हैं जो इस व्यवस्था के साथ दिखाई पड़ते हैं। माता अपनी विवाहिता पुत्रियों के स्वास्थ्य और सुख की देख-भाल कर उनके और विभिन्न परिवारों में विवाहित होने के कारण उत्पन्न हुई असमानता को दूर कर अपने कर्त्तव्य का पालन करती थी। इस व्यवस्था में समानता की भावना उत्पन्न होती थी जिसके कारण स्वभाव और प्रवृत्ति की भिन्नताओं तथा नैतिक और भौतिक गुणों के साथ निभने की पूरी गुञ्जाइश था। इसके अतिरिक्त परिवार समझौते का भाव उत्पन्न करने और मनोवेगों की उन्नति करने में सहायता कर मानवता की सर्वोत्तम शिक्षा देने का अवसर देता है। यह जीवन का विद्यापीठ है जहां पर मानव-विकास के प्रायः प्रत्येक विभाग की शिक्षा दी जाती है। इसका लोप होना खेद की बात है, जो कदाचित् बचाई नहीं जा सकती क्योंकि लेखक के शब्दों में "भारत की आध्यात्मिकता, उसकी गंभीर मानवता, और जीवन की शान्ति भूत काल की वस्तुएं हो जायंगी।" ये सहिष्णुता की भावनाएँ जिन्होंने विभिन्न जातियों को "जिन्दा रहो और जिन्दा रहने दो" के सिद्धान्त पर साथ-साथ रहने देने में सहायता की है, अब न रह जायंगी। वे जाति पांतियां जो आध्यात्मिक रूप

से सहानुभूति रखती थीं, और लोगों को चालीस शताब्दियों से शान्ति और सुख में रहने देने में समर्थ कर सकी थीं, एक सार्वभौमिक उथल-पथल में एक दूसरे के विरुद्ध उठ खड़ी होंगी और भारत भी उसी रूप में हो जायगा जैसे पाश्चात्य देश हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय गृहस्थी जो भारतीय राष्ट्रीयता का केन्द्र है, और जहाँ से हज़ारों भव्य प्रभावों का उपद्रव है, पूर्णता में उतनी ही छिन्न भिन्न हुई जितना संयुक्त परिवार। इसके घरेलू पहलू के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। विवाह की प्रथा, भारतीय नारियों द्वारा प्रतिपालित, लज्जा और मर्यादा की भावना, भारतीय नारी का नए परिवार में घर बनाना, विवाह बंधन द्वारा केवल दो आत्माओं का ही नहीं, प्रत्युत दो परिवारों का सम्मिलन, अल्प व्यय, स्वच्छता, और कलात्मक कार्य, विवाह को जन्म ना मानने की मुख्य भावना तीर्थ स्थान प्रत्येक व्यक्ति के आध्यात्मिक कार्यों के व्रत, स्त्री और पुरुष में परस्पर एक दूसरे के आधीन रहने की भावना, जो पारस्परिक सम्मान का आधार बन जाती है और पारस्परिक स्नेह-सूत्र का बंधन बन जाती है, अतिथियों का देवताओं की तरह सत्कार-स्वच्छता के ताने में धार्मिक बाने की बुनावट, अपवित्रता का विचार, नियम, व्यवस्था तथा सौन्दर्य का अटल प्रेम - ये भारतीय गृहस्थी के रूप हैं जो रत्नों को आभा प्रदान करते हैं।

जहाँ गृहस्थी संयुक्त परिवार द्वारा दृढ़ की गई है, वहाँ समाज वर्ण-व्यवस्था द्वारा दृढ़ किया गया है जो जल्दी में यह कह कर त्याज्य बताई जाती है कि यह "ऐसा भूत है जो अपने भयानक दांतों का गहरा प्रहार हिन्दू समाज के मर्म स्थल पर करता है।" आज वर्ण-व्यवस्था के अत्याचार हिन्दू समाज के पत्थर रूप में निर्जीव हो जाने की बात सुन कर यह सब को संदेह होता है कि

क्या युगों से प्रचलित और समय द्वारा मर्यादित प्राचीन संस्था कोई हितकर कार्य भी कर सकी है। फिर भी, जब हम यह मानते हैं कि आर्यों ने भारत को एक दल के रूप में एक साथ ही नहीं, आनुक्रमिक जत्थों के रूप में आक्रान्त किया तो हम अनुभव कर सकते हैं कि उन जातियों के जिनके जातीय बंधन को ग्राम्य धंधों ने तोड़ डाला, किस प्रकार केवल धार्मिक बंधन ही एकता और मेल के धागे में बांध सकने में समर्थ हुआ होगा। जिस प्रकार संयुक्त परिवार आर्थिक आवश्यकता के कारण उत्पन्न हुआ और पूर्वजों की पूजा के आधार पर आदर्श बना, उसी प्रकार वर्ण भी कालान्तर में उसी प्रकार आदर्श बना और इसीलिए उस आवश्यक बुनियाद को लुप्त कर दिया जिस पर वह स्थापित हुआ था। रज़ामन्दी की जगह आधीनता की भावना पर आधारित मानव सम्बन्धों को कुछ स्थायित्व का रूप देने के लिए ऐसा आदर्शवाद आवश्यक हुआ। यथार्थ में हिन्दू समाज के चार मुख्य विभाग वर्ण नहीं हैं, बल्कि वर्ग हैं—ऐसे ही कठोरता कुछ अतिशयोक्ति है। क्योंकि आधीनता स्वीकृत, और पृथक करने का क्रम कुछ हद तक कड़े कर दिये गये हैं। भारतीय वर्ण-व्यवस्था वास्तव में भाई-चारे का नाता है जिसके सभी सदस्य धन की दृष्टि से छोटे बड़े होने पर भी समान हैं। समानता की भावना के कारण ही यह बात है कि एक जाति के आदमी भोज और धार्मिक संस्कारों के समय समान रूप से साथ बैठते हैं।

लोकतांत्रिक भावना का दूसरा परिणाम जीवन-यापन के दर्जे में कुछ समानता है जो लोगों में पारस्परिक सहायता और सहयोग की भावना जागृत करती है। आज की विभिन्न जातियों के पारस्परिक द्वेष नये ज़माने की बात है, अंग्रेजों के पहले उनका अस्तित्व नहीं था। वर्ण-व्यवस्था आत्म-संयम सिखाती थी और सम्पत्ति को विद्या से पृथक रखती थी। और उन दोनों के

संयोग से होने वाले अत्याचार को बचाती थी। इसने कारीगरों की पुश्तैनी हुनर और प्रतिभा के बहाव को अटूट बना दिया था और शिक्षा की बर्बादी को रोक दिया था। "इस व्यवस्था द्वारा शिक्षा गुरु और शिष्य के व्यक्तिगत संबंध पर आधारित हो गई थी जो अधिकांशत: पिता और पुत्र होते थे, और वह वंश-परम्परागत ज्ञान द्वारा दी जाती थी, संपर्क और आख्यानों द्वारा उन पर पुनर्विचार करने की काफी गुंजाइश रहती थी, जो केवल बुद्धि में ही नहीं प्रवेश कर जाती थी, बल्कि छन-छन कर व्यक्तित्व का भाग बन जाती थी। इस प्रकार दक्षिण के विशाल मन्दिरों का जन्म हुआ है, जो वृहद आकार के ऊँचे शिखरों का जन्म हुआ है, जो वृहद आकार के ऊँचे शिखरों तथा विस्तृत झुकाव सहित इतने विकराल रूप के बने हैं कि उन पर समय की कोई गति नहीं, और उन्हें देख कर कल्पना आश्चर्य-चकित रह जाती है। इसी प्रकार उत्तर की कलात्मक वस्तुओं की रचना हुई है। जो अद्भुत सौन्दर्य, अपूर्व कमनीय भास्कर शिल्प और भव्य सजावट युक्त हैं। धन विचार की वस्तु नहीं था, समय ही इकरारनामों का मूलाधार नहीं था, पश्चिम की सस्ती और तड़कीली-भड़कीली साज सामान की चीजें, इकरारनामों और ठेकों का कार्य करने का ढंग वर्ण व्यवस्था के लिए अज्ञात और उसकी आत्मा के लिए असह्य चीजें थीं। वर्ण व्यवस्था वह प्रचंड शक्ति है जो अधिकार की जगह कर्तव्य की भावना रखती है, सहानुभूति प्रोत्साहित करती है और स्वार्थ-परायणता का दमन करती है। कार्याधिक्य वा विश्राम के अभाव का नाम नहीं था वर्ण-व्यवस्था संयुक्त परिवार की जिम्मेदारियों और उसके द्वारा संचारित पवित्रता तथा स्वार्थत्याग के ऊपर कुछ हद तक देख-भाल रखती थी। व्यक्तियों के ऊपर यह भरोसा किया जाता था कि वे सदा समाज के आदर्शों के अनुकूल ही जीवन-क्रम

चलायेंगे। वर्ण-व्यवस्था के अधीन कार्यों और उद्योगों के क्षेत्र को संघर्ष की द्वेषभावना और लिप्सा प्रभावित नहीं करती थी जो सदा स्पष्ट और पूर्ण व्यक्त रहते थे। आज वर्ण-व्यवस्था स्वर्गीय निःसृत वस्तु होने के स्थान पर मुर्दों के मुंह का नीरस सूत्र रह गई है।

अब हम भारत के धर्म पर विचार करेंगे। हिन्दुत्व कोई एक सरल स्पष्ट आस्था नहीं है बल्कि बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति की भिन्न-भिन्न विकास-स्थिति की जातियों को अपने आधीन एकत्र रखने वाला, मतों और अंध-विश्वासों का संग्रह है। इन जातियों और मतों को एक ही सद्‌गुण में एकत्र आबद्ध करने वाले एक एकता का सिद्धांत ढूढ़ निकालने की आवश्यकता थी। इसके परिणाम स्वरूप एक "सामाजिक सिद्धान्त और आर्थिक सिद्धान्त उत्पन्न हुआ जिसने विभिन्न स्वार्थों का सामंजस्य किया और भारतीय जातियों, रूप पाषाणखंडों के समूह से निर्मित पिंड को दर्शन के एक ही सांचे में ढालने वाले, नन्हें-नन्हें रंगीले प्रस्तर खण्ड से निर्मित चित्रों का सौन्दर्य और सुडौलता प्रदान की। हिन्दुत्व केवल एक धर्म नहीं है, यह एक सभ्यता, जीवनयापन विधि है।" **ईश्वर एक हैं किन्तु सन्तों ने इसे कई नाम दिया है।** हिन्दुओं के सर्वदेव-मन्दिर का यही मूल सिद्धान्त है। अतएव, लेखक के कथनानुसार, यह कहना केवल स्पष्टतम न्याय है कि उपनिषदों के गंभीर मनन का कारण आस्थाओं और अंध-विश्वासों के मूल में एकता स्थापित करने का दृढ़ विचार जिनको उन्होंने अंगीकार कर लेने का निश्चय कर लिया था, उपनिषदों का सर्वेश्वर वाद जो क्रमिक पूर्णता की एक अटूट लड़ी प्रदर्शित करता है, जन्म और पुनर्जन्म की एक असीम शृंखला का विचार प्रदर्शित करने वाला अवतारवाद का सिद्धान्त और हिन्दू सामा-

जिक व्यवस्था की सभी मांगों की पूर्ति करने वाला कर्म का सिद्धान्त—ये हिन्दू धर्म की बुनियाद हैं। परिवार और समाज दोनों ही में कार्य करने का हेतु लोक-स्तुति वा सार्वजनिक प्रशंसा नहीं है, प्रत्युत आत्म-त्याग और स्वार्थ त्याग की भावना है। रस्म-रिवाजों और धार्मिक संस्कारों का विस्तार अवश्य ही हुआ उसी के साथ सांकेतिक स्वरूप निर्देश का भी जाल फैला, किन्तु अविकसित कबीलों की उपस्थिति में यह होना अनिवार्य था। फिर भी आर्य धर्म की स्थापना कुछ निश्चित चिरस्थायी और सार्वभौमिक सत्यों पर हुई, जब कि स्वरूप और सूत्र केवल सहायक रूप में थे। यह प्राय: कहा जाता है कि हिन्दू धर्म निगल जाने की शक्ति रखने वाला धर्म है। यह ऐसा था, क्योंकि इसे आर्यों की अपरिमार्जित आस्थाओं को इस प्रकार ग्रहण कर पचाना पड़ता और अपने में सम्मिलित कर लेना पड़ता कि वे परिमार्जित होकर, उनके द्वारा माने जाने वाले महानतर सत्यों के साधक रूप हो सकें। "यही कारण था कि काली, जो बहुत रौद्र रूप की देवी हैं, महान् और दुरूह दार्शनिक तत्वों की संवाहिका बनाई गई। बौद्ध धर्म में हिन्दू धर्म के विरुद्ध बातें थीं किन्तु हिन्दू धर्म ने अपना प्रभुत्व फिर स्थापित किया किन्तु उसके साथ ही उसमें अबोधगम्य रूप से बौद्ध धर्म के प्रभाव घुस गए। अनेक सुधारक उत्पन्न हुए और आज हम लोगों की आंखों के सामने भी सुधार की क्रिया जारी है। पौर्वात्य सभ्यता एक मन्दिर है जिसमें आराधक ईश्वर के दर्शन बिना ही आराधना करता है। "उसमें आध्यात्मिकता का जलाशय कभी निर्जल नहीं होता।" भविष्य कुछ उपयुक्त परिवर्तनों के साथ भूतकाल का पुनरावर्तन नहीं है।

यह कहना कि भारतीय सभ्यता अपने दृष्टिकोण में केवल धार्मिक और दार्शनिक है, समाज की आर्थिक उन्नति पर हम लोगों के पूर्वजों द्वारा दिए गए जोर पर दृष्टि न डालना है।

यथार्थत: अर्थशास्त्र ने समाज को रचित किया और समाज धर्म द्वारा स्थिर बनाया गया। यही कारण था कि ग्राम-संगठन और ग्राम-संघों की उत्पत्ति आर्थिक-सामाजिक ढांचे का अविभाज्य भाग बना जिसकी पृष्ठ-भूमि धर्म रक्खा गया। भारत का ग्राम संघ वास्तव में ग्राम-प्रजातंत्र नहीं है. और न पाश्चात्य देशों की तरह सामंतशाही की शृंखला की कड़ियां हैं, बहुमत और अल्पमत का विचार हम लोगों के पूर्वजों को अज्ञात था। ग्राम-सभायें अधिकार-प्रदर्शन न कर सदा जिम्मेदारी पूरी करने की ही बातें करती थीं। जिम्मेदारियाँ व कर्तव्य स्वयं नियम-बद्ध हो जाने की प्रवृत्ति रखते हैं। उनमें देश की परम्परा, वर्ण व्यवस्था की मर्यादा, बड़ों की बुद्धि निहित रहती है जो नई पीढ़ियों का पथ-प्रदर्शन करती हैं। पालन करने के लिए कर्त्तव्यों की भरमार होती है। खाने के लिये अन्न का भी उसी तरह बाहुल्य है। डा० कुन्ही कैनन प्राचीन भारत के प्रति सदा पक्षपाती नहीं हैं। उन्होंने ग्राम्य-संघ की दुर्बलताओं को स्वीकार किया है। गांव पर राजा का अधिकार उनके अनुसार धर्म की भावना तक ही सीमित था, और यदि ग्राम वासी कोई परिवर्तन स्वीकार नहीं करना चाहते थे तो वे प्रार्थना करते, विरोध करते और अंतिम मार्ग रूप में वहां की भूमि त्याग कर गांव को छोड़ कर चले जाते। गांव एक स्वतः पूरित इकाई था, जो राजा द्वारा एक माना जाता, और जहां सब का एक मत होता, वहां राजा को झुकना पड़ता। गांव की दृष्टिशक्ति निस्सन्देह सीमित थी, और वह गांव के अधिकार-क्षेत्र और राजा के अधिकार-क्षेत्र की स्पष्ट विभाजन रेखा का परिणाम था। पाश्चात्य देशों की सामंतशाही की कभी भी भारतीय सभ्यता के अंग रूप नहीं रही है। सामंतशाही की उत्पत्ति राजा की सैनिक आवश्यकता के कारण हुआ था, जिसके फलस्वरूप कालान्तर में, क्रमिक दासता का जन्म होता था, जिससे, ठीक कालान्तर में,

फिर विप्लव का उदय होता था। इसी प्रकार पाश्चात्य देशों के विभिन्न आन्दोलन का उदय हुआ, रुदीमिन्डी के युद्ध क्षेत्र से स्वाधीनता का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, जनता ने बलपूर्वक मैगना कार्टा (स्वाधीनता का राजकीय घोषण पत्र) प्राप्त किया, राजा प्रथम चार्ल्स की गर्दन उतारी गई। किन्तु भारत में जहाँ राजा धर्म के अनुसार राज्य करता था और आक्रामकों से जनता की रक्षा का उत्तरदायित्व लेता था, जातियां अपने धर्म के पालन में रत रहतीं, जिनके ऊपर या बाहर से कोई बाधा नहीं पड़ती, एक परिपूर्ण और शान्त जीवन व्यतीत करतीं, अपने राजा के रक्षार्थ वा आक्रमण के लिए किए जाने वाले युद्धों की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। इसके अतिरिक्त राजा कला और साहित्य का संरक्षक भी था। इसके विपरीत प्रजा शिल्पकला और संस्कृति की संरक्षिका थी। वह एक दूसरे के पूरक थे, एक दूसरे के प्रतिस्पर्द्धी नहीं। उनमें पारस्परिक सत्ता के लिए होड़ नहीं थी, न व्यापार में प्रतिद्वन्दिता।

भारत में पाश्चात्य देशों से विभिन्न रूप में एक अधिक पवित्र और विशुद्ध रूप का व्यक्तिवाद कुछ भाग लेता था, क्योंकि वहां पर राज्य व्यक्तिगत जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र में अन्य स्थानों की तरह कभी भी अधिकार नहीं दर्शाता था। बाहर के किसी शासनाधिकारी की दस्तन्दाजी के बिना ही मनुष्य के कर्तव्य सदा वर्ण के आदेशों द्वारा निर्धारित होते थे। क्रिया-शीलता के अभिप्राय अंतस्तल से ही उत्पन्न माने जाते थे। बनावटी कारण के सभी संकीर्ण प्रभाओं को वर्ण व्यवस्थाने मिटा दिया था। "वर्णव्यवस्था क्रियाशील होने का कारण प्रस्तुत विषय की बौद्धिक ग्रहणशीलता नहीं थी प्रस्तुत साधारण संवेग की स्वतः प्रवृत्ति से हुई।" यह केवल क्रिया-शील ही नहीं, बल्कि इसने उस उत्तेजनाओं को शुद्ध भी किया और व्यक्तिगत क्रिया-शीलता के अभिप्राय को भी उन्नत किया।

शिक्षा और धार्मिक आराधना दोनों में व्यक्ति ही प्रकाश ढूंढ़ता है और नेतृत्व प्राप्त करता है। सामूहिक रूप में पूजा, सामूहिक रूप में अध्ययन यदि अज्ञात नहीं थे तो अप्रचलित अवश्य थे। यह कहा जाता है कि हिन्दू प्रार्थनाएं नैतिक बल की अपेक्षा आध्यात्मिक बल के लिए ही होती हैं। "अतएव प्रार्थना में काल और स्थान की महत्ता नहीं बल्कि संवेग ही पूर्ण रूप से तत्काल उद्भूत होकर प्रयुक्त होता है।" इसी प्रकार धर्मार्थ कार्य भी वैयक्तिक है, सामूहिक नहीं, जो दाता के लिए उतना ही श्रेयस्कर है जितना उसके ग्रहणकर्त्ता के लिए विपत्ति और यातना के सम्पर्क में उठने की प्रबल भावना हुआ करती है, केवल वहीं धर्मार्थ की भावना जागृत रख सकती है। वैद्य शिष्य, वा जादूगर के शुल्क किसी निश्चित रूप में बँधे नहीं होते। पाई हुई सहायता के कारण वैयक्तिक कृतज्ञता की एक गहरी भावना उठती है, वह धन्यवाद के शब्दों द्वारा नहीं, बल्कि प्राप्त सहायता के बदले में सहायता वा सेवा कार्य कर उसे चुकता कर देने के लिये चिन्तित रहती है।

साहित्य क्षेत्र में भारत किसी देश से पीछे नहीं है। मानव जीवन के अनेक समस्याओं, तथा संस्कार पर, जो मानव प्रयत्नों को समतुल्यता और सामंजस्य प्रदान करना चाहता है, तथा व्यक्ति को अपने विरोधी का दृष्टिकोण समझने में सहायता करता है, उचित ध्यान दिया गया है। किन्तु, जैसा कि भारत में आशा की जा सकती है, साहित्य में धार्मिक ध्वनि है जिसके साथ बहुत अधिक नैतिक उपदेश भी हैं। स्त्रीत्व वा दासता का बंधन पात्रों के उन व्यक्तियों को, जिन को अधिक ज्ञानी होना चाहिये उपदेश देने से वंचित नहीं करता। धार्मिक ध्वनि उपदेश के माधुर्य द्वारा अधिक संतुलित की गई है। इसके विचारों की साम्यावस्था और इसके भव्य प्रदर्शन की परिस्थितियों की उपयुक्तता इसकी सार्वभौमिकता को शोभा देती है। पाश्चात्य जीवन

सदा इसके नए-नए स्वार्थों की हलचल तथा वर्गों या व्यक्तियों के संघर्षों से उत्पन्न युद्धों से ओत-प्रोत हैं। पूर्वी देशों में जीवन की समस्याओं के सुलझाव थोड़े वा बहुत अस्थायी ही हैं। पश्चिम बुराई पैदा करता है और फिर उसकी दवा ढूंढ़ता है। यही कारण है कि पश्चिम में नाटक और उपन्यास दोनों में सामाजिक बुराइयों का चित्रण रहता है जो विश्लेषित की जाती हैं और पूर्ण नग्न रूप में प्रदर्शित की जाती हैं। किन्तु वर्ण-व्यवस्था में जब तब समाज की सीमाएं उभाड़ने की आवश्यकता नहीं होती अतएव नए सुलझाव की आवश्यकता वाली नई समस्याएं बहुत कम उठती हैं।

"मानव भावनाओं की प्रचुरता इच्छाओं की भिन्नता के अभाव के बिलकुल विपक्ष होती है। ईश्वर के सर्वव्यापक होने की भावना की सतत विद्यमानता मानव विकार के उभाड़ का नियमन और विरोध करती है जिनका पाश्चात्य देशों में अधिकाधिक जोर बढ़ता जाता है। हिन्दू के लिए "प्रकृति और मनुष्य में समान जीवन ही प्रतिवाहिक रहता है।" पशुपक्षियों में भी उसी प्रकार की भावनाओं और अनुरागों का होना माना जाता है जैसा मनुष्य में। हां, उनके सूक्ष्मतर मनोवेगों के चित्रण में कुछ अतिशयोक्ति अवश्य की जाती है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि भारत में जीवन एक माना जाता है जिसमें मुख्य प्रयत्न इच्छा की अपेक्षा मनोवेगों की संस्कृति है। जब भीष्म ब्रह्मचर्य व्रतकी प्रतिज्ञा करते हैं व शत्रु को अपना वध करने का उपाय स्वयं बतला देते हैं तो उसमें धार्मिक अभिप्राय मुख्य है। यह देखा जाता है कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य त्रिकट आदर्श के वातावरण से ओतप्रोत है जो मनुष्य को स्वार्थपरता से विरत और सर्वदा उत्तरदायित्व पूर्ण तथा महानतम नैतिक पूर्णता के चरित्र का होने पर जोर देता है।

जब हम भारतीय नारियों की स्थिति का अध्ययन करने चलते हैं तो लेखक बतलाता है कि स्त्रियां प्राचीन भारत में किस प्रकार पुरुषों के बराबरी की स्थिति रखती थीं, प्राय: युवावस्था होने पर विवाह करती थीं पति निर्वाचन स्वयं करती थीं, विधवा हो जाने पर विवाह कर सकती थीं। वे वेदों का अध्ययन कर सकती थीं, और पुरुषों में स्वतंत्रता पूर्वक आ जा सकती थीं। किन्तु कालान्तर में आर्य-मस्तिष्क को विरोधी शक्तियों के विपक्ष बड़ा कठिन युद्ध करना पड़ा, अल्प सभ्य कबीलों के संसर्ग और बौद्ध धर्म के धक्के ने स्त्रियों को बहुत अधिक विकट स्थिति में डाल दिया। मुसलमानों के आगमन ने उन्नति की समान गति को अवरुद्ध करने का काम किया, इधर अँग्रेजों के सम्पर्क ने हिन्दू समाज को विकट रूप से और प्रभावित किया है। वर्तमान परिवर्तनों के अनुकूल पूर्व प्रचलित प्रथाओं के रूपान्तर द्वारा हिन्दू समाज की उन्नति अँग्रेजों द्वारा पूर्णतया अवरुद्ध हो गई है।

"एक सीमा तक जायदादों के स्थायी संरक्षण के सिद्धान्त, इकरारनामों के लिये असमर्थता, पुरुष उत्तराधिकारियों में सब से अयोग्य होने पर भी ज्येष्ठ को ही अधिकार-प्राप्ति और दाम्पत्य अधिकारों का प्रचलन—ये उस नीति के फल थे। जिसने उन रीति रिवाजों और प्रथाओं को रद्द कर देने का प्रयत्न किया जो उस समय प्रचलित हिन्दू धर्म व्यवस्था के विरुद्ध नहीं, प्रत्युत किसी पूर्वकालीन धर्म-शास्त्र के विरुद्ध थे।" प्राचीन भारत में अपनी आध्यात्मिकता के विस्तृत भंडार पर ही निर्भर करती थीं, और अपनी ओर से कभी पुरुषों को दुख नहीं देतीं थी। किन्तु घटनाओं की अधिक तीव्र गति ने, जिसमें भारतीय संस्थाओं का लोप हो गया स्त्री और पुरुष दोनों को नैतिक के स्थान कानूनी क्षेत्र में डाल दिया। आज इसका विवाद है कि विदेशी सरकार द्वारा नियंत्रित धारा-सभाओं के माध्यम द्वारा कानून की सहायता

लेकर स्त्रियों की स्थिति सुरक्षित की जाय वा नहीं। भारतीय राष्ट्रीयता की भट्टी में, उसके नीचे प्रज्वलित अग्नि और भीतर दहकते हुये पदार्थों में कोई भारतीय नारियों से अधिक उछाला नहीं जा रहा है।

किन्तु भारतीय नारियों ने किसी समय जो ऊँचा सामाजिक स्थान प्राप्त किया था, उससे उनकी अधोगति चाहे जितनी हुई हो वास्तविकता यह है कि केवल वही एक मात्र साधन रही हैं जिसने भारतीय राष्ट्रीयता के पूर्ण सौन्दर्य और अखंडनीयता की रक्षा की है। सभी राष्ट्रीयताओं के मूल्य में कला का स्थान होता है और यदि भारतीय गृहस्थी नितान्त रूप से कलात्मक है तो उसका श्रेय भारतीय नारियों को ही मिलेगा। पूर्व संसार को नश्वर समझता है और पश्चिम चिरस्थायी मानता है। अतएव पश्चिम इसे नए ढांचों में ढालने का प्रयत्न करता है। पूर्व के लिये मृत्यु केवल नए जीवन का द्वार मात्र है, अतएव पश्चिम को संसार यथार्थ रूप में मोहक मालूम होता है और संसार की यथार्थतायें अपने भौतिक रूप में प्रकट होती हैं। इसके विपक्ष पूर्व वाले उनको आदर्श रूप में देखने का प्रयत्न करते हैं। यही उल्लेखनीय भेद है जो पूर्व और पश्चिम के कलात्मक जीवन में दिखाई पड़ता है।"

"पश्चिम का यथार्थवाद का भारतीय कला में कोई स्थान नहीं, यथार्थत: वह ऐसे लोगों को संतुष्ट नहीं कर सकता था, जो भौतिक जीवन को मायाजाल मानते हैं।" जब एक बार इस भेद को समझ लिया जाय तो पूर्व और पश्चिम की कलायें तुरन्त बोधगम्य हो जाती हैं। हम इस विषय में अधिक न कह कर केवल लेखक की एक पंक्ति उद्धृत करेंगे :—पश्चिम के कलाकार द्वारा कितनी भी सावधानी से चित्रित कोई आक्रमणशील सिंह, एक विशेष स्थिति को पूर्ण ब्योरे से प्रदर्शित करता है, जिसे

दर्शक ठीक तरह समझ सकता हो वा न समझ सकता हो किन्तु उसकी कल्पना के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ता। हम लोगों के लिये कला वही सर्वोत्तम है जो अंकित रूप में मस्तिष्क को बांध नहीं देती।" और जो व्यक्ति को अपनी कल्पना या अनुमान अपने ढङ्ग से करने में सहायता करता है वह अधिक स्थायी होती है।

भारतीय कला के नितान्त धार्मिक रूप ने उस सांकेतिकता को जन्म दिया है जो अधिकाधिक विवरणात्मक बनने में प्रवृत्त रहा है। और इस प्रकार सांकेतिकता ने आर्य सङ्घ से पृथक जातियों की स्थूलतर आस्थाओं को उच्च बनाने के गौण अभिप्राय की पूर्ति की है। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि किसी के मनोभावों के चित्रण में अधिक विस्तार विकसित होता है जो मुख्य भाव को क्षणिक बनाने में प्रवृत्त होता है जो प्रत्येक द्वारा सुगमता अनुभव नहीं किया जा सकता और इस कमी के प्रतिकार के लिये चित्रकार कुछ सीमा तक कलात्मक अतिशयोक्ति में बर्बस प्रवृत्त होता है। मनोवेगों का जब चित्रांकन करना होता है तो उसमें वे अतिशयोक्तियां अनिवार्य होती हैं और जब यथार्थता का अंकन करना होता है तो उसमें वे असंगत होती हैं। यहां पर फिर भारतीय कला को प्राचीन और नवीन के मध्य, पूर्व और पश्चिम के मध्य, किसी की निजी विश्वासपात्रता और दूसरों के अनुकरण द्वारा संरक्षकता के मध्य, अपने पुनरुद्धार में उद्वेलित होना पड़ता है।

———

अध्याय ५

गांधीवाद या समाजवाद

परिवर्तनशील समय के अनुसार नवीन विचारों के प्रयोग से संसार के इतिहास का निर्माण हुआ है, प्रत्येक शताब्दी का एक प्रमुख सुर होता है, जो राष्ट्रीय जीवन की उन्नति के समय अधिक समय तक प्रवाहित धाराओं को यथार्थ रूप में समझने के लिए कुन्जी का काम देता है। हम यह भी देखते हैं कि एक समय या युग में प्रचलित भावनाएं और आदर्श दूसरे समयों और युगों तक शीघ्रता से प्रसारित हो गए हैं, जिसमें पहले समय या युग के भोगे हुए भाग्य-परिवर्तनों का सामना दूसरे समय वा युग को नहीं करना पड़ता। अपने समय में भी हम देखते हैं कि विभिन्न देशों और महादेशों के लोगों की भावनाओं और विचारों में कितने शीघ्र और विचित्र प्रकार के परिवर्तन हुए हैं। हम लोगों की आंखों के सामने यह उदाहरण इतने स्पष्ट हैं कि उनकी गणना वा टीका नहीं की जा सकती।

पश्चिम में समाजवाद

फिर भी इन विचारों में से हम एक लेते हैं जो हम लोगों के उद्देश्य से सीधे संगत है। एक समय समाजवाद पाखन्ड वा पागलपन भी समझा जाता था. युगों से प्रचलित और परम्परागत संस्थाओं पर इसके प्रहार को रोकने के लिये अनेक देशों ने अनेक उपायों का अवलंबन किया है जिसके द्वारा उन्होंने इसके आदर्शों की प्रचंडता को केवल शान्त किया है। उसके ज्वार के के प्रवाह का सदा के लिये विरोधी नहीं किया है, जहां इंगलैंड में समाजवाद एक उदार विचार के रूप में रहा है जो अर्थनीति और

समाज के पुराने आधार को निगल जाने के स्थान पर प्राय: उनके ही द्वारा निगला गया है, इसने अपना असंदिग्ध प्रभाव अंग्रेजी समाज पर डाला है, लेकिन यह कोई नहीं कह सकता कि अंग्रेज जाति की आर्थिक नीति और राजनैतिक सिद्धान्तों के रूप में पूर्णत: कायापलट हुआ है इसके विपक्ष में रूस में समाजवाद के सिद्धान्तों को पूरी तरह व्यवहार में लाया गया है। और परिस्थितियों के ऐसे आकस्मिक तथा तीव्र कायापलट की प्रतिक्रिया ऊँची ऊँची दीवारें खड़ा किये जाने पर भी संसार के कोने २ तक पहुंची है।

इस प्रकार, जैसा कि स्वयं बारट्रेंड रसेल ने इस बात को स्वीकार किया है, समाजवाद इंगलैंड में एक निश्चित लक्ष्य न हो कर एक भावना मात्र रह गया है और स्वयं मजदूर आन्दोलन का भी, हालां कि वह समाजवादी दृष्टिकोण रखने का दावा करता है, राजनीति में दलबन्दी के आधार के विशेष रूप से विरोध नहीं किया गया है। इसने निःसन्देह शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ाई है और उन लोगों के लिए बौद्धिक और राजनैतिक अधिकार-प्राप्ति की सुविधाएं उत्पन्न की हैं जो अब तक दिल और दिमाग से रहित केवल मजदूर माने जाते रहे हैं, इसके अतिरिक्त इसने कुछ उत्पादक आनन्द भी उत्पन्न किया है—किन्तु यहां पर ही यह रुक जाता है और बेकारी की तनिक भी समस्या हल करने वा काम में लगे हुओं के सुख में तनिक भी वृद्धि करने में असमर्थ हो जाता है, पश्चिम में लोगों की प्रवृत्ति राजकीय समाजवाद की ओर होती जा रही है किन्तु फिर यहां पर भी केवल मालिक ही बदलते हैं, मजदूर फिर भी गुलामी में ही पड़ा रहता है और यह ठीक ही कहा गया है कि आत्म-निर्धारण की भावना वृद्धि करने के स्थान पर यह केवल पारस्परिक हस्तक्षेप की ही वृद्धि करता है। किसी भी अवस्था में काम का वह गौरव और उत्पादक शक्ति का वह

आनन्द जिसकी श्रमिक लालसा रखता है समाजवाद की सभी नकली योजनाओं से प्राप्त नहीं होते, वे योजनाएं चाहे सहयोग समिति आन्दोलन, श्रमिक-संघवाद या राजकीय समाजवाद की हों जो उन बुराइयों का दमन करने के लिये खड़ी की गई हैं जो पूंजीवाद में एक के बाद एक खड़ा किया है।

यह अब अच्छी तरह सब लोगों को मालूम है कि पश्चिम का समाजवाद उन सब अवस्थाओं के संयोग के विरुद्ध प्रतिक्रिया है जो लोगों के सामाजिक और आर्थिक जीवन पर अपना प्रभुत्व जमाए है। जायदाद और उत्तराधिकार विषयक कानूनों ने जिसके अनुसार परिवार में सब से बड़े लड़के का अधिकार स्वीकार किया जाता है, युवा पुरुषों का ऐसा वर्ग तैयार कर दिया है जो परिवार के सब से बड़े पुत्र हैं जो अगाध सम्पत्ति और विश्राम का उपयोग करते हैं अपनी सम्पत्ति पूंजी के उपयोग द्वारा बढ़ाते हैं और साम्राज्य स्थापना तथा शोषण में रत रहते हैं, उनके पास धन अगाध होता है और महत्वाकांक्षा अत्यधिक होती है जब कि परिवार के अन्य पुत्र समाज में इधर उधर भटकते हुए उन शोषण की योजनाओं को पूरा करने में प्रबल रूप से सहायक होते हैं और उनके धनिक और महात्वाकांक्षी बड़ों द्वारा खड़ी की जाती हैं, इस प्रकार श्रीमन्तों के एक छोटे वर्ग और प्रजातंत्र-वादियों के एक बड़े वर्ग—पूंजीवादी और औद्योगिकवादी व्यवस्था की उत्पत्ति हुई है जो देश के सामाजिक व्यवस्था के निःसंदेह प्रत्यक्ष परिणाम स्वरूप एक ही चित्र के दो पहलू हैं।

वर्ग-विभेद की वृद्धि

आर्थिक क्षेत्र में घटनाओं का क्रम और भी स्पष्ट है, भाप के इंजिन का आविष्कार और उत्पादन तथा वस्तु निर्माण में यांत्रिक शक्ति के उपयोग ने पाश्चात्य देशों को संसार का प्रधानतम राष्ट्र

बना कर व्यापर पर एकाधिकार करने, विक्रय-क्षेत्र खोजने-राष्ट्रों को आधीन करने और शस्त्री-करण तथा व्यापार में प्रधानता के आधार पर स्थापित साम्राज्यवाद का क्रम स्थापित करने का अवसर दिया है। शान्ति और युद्ध दोनों अवस्थाओं में ठोस और व्यापक संगठनों ने संसार के व्यापार और प्रदेशों को अधिकृत करने का मार्ग खोला है, जिसने अपने को कभी औद्योगिकवादी और कभी सैनिकवादी रूप में प्रकट किया है। इसने एक ऐसी व्यवस्था की उत्पत्ति की है कि जिसमें उसको तो और भी अधिक प्राप्त होता है जिसके पास कुछ नहीं है उसके पास का थोड़ा बहुत भी छिन जाता है। इस प्रकार लंदन के पश्चिमी खंड में तो गगन-चुम्बी महल खड़े हो गए हैं और पूर्वी खंड में दुर्गन्धियुक्त घनी आबादी है जहाँ घोर गरीबी छाई हुई है। निर्यात के लिए उत्पादन के सिद्धान्त को निरन्तर संरक्षण नहीं प्राप्त हो सकता अतएव बेकारी बढ़ गई है महायुद्ध ने पहले की अवस्थाओं को पलट दिया है। और पश्चिम के देशों में विप्लव की एक भावना उठ खड़ी हुई है।

इंगलैंड ने अपनी सामान्यतः सतर्कता के कारण मजदूर आन्दोलन, मजदूरसंघ, और समाजवाद की लहर को रोकने के लिए अनेक रक्षा के साधनों की रचना की है वास्तव में पिछली अर्द्धशताब्दी के मजदूर आन्दोलन का इतिहास उन चतुराई के साधनों को प्रकट करता है जिनके द्वारा योरप के सबसे अधिक पश्चिमीभूत और सरलतया ही संसार के राष्ट्रों में सबसे अधिक दकियानूसी राष्ट्र इंगलैंड ने समयानुकूल ऐसी सुविधाएं देकर समाजवाद का मुकाबला किया है जैसी की बालिग मताधिकार मजदूर सभाओं को स्वीकार करना, हड़तालों को रियायतें, वृद्धावस्था की पेंशनें, प्रसूति काल में स्त्रियों को सुविधाएं, बीमारों का बीमा उत्तराधिकारी के अत्यधिक कर, अतिरिक्त आय-कर, पूंजी पर लगा

हुआ कर, और इनके बाद बेकारों को वृत्ति जहां तक साधारण लोगों का सम्बन्ध है ये रियायतें आखिरी हद तक पहुंच गई हैं। इसके साथ ही ऊँची चोटी के लोग समाजवाद के सिद्धान्तों के प्रतिपादक नेता दकियानूसी मंडल में घुल मिल कर लुप्त हो गये हैं। इंगलैंड में एक भारी परिवर्तन होने ही वाला है। उससे फासिस्टवाद की स्थापना होगी व साम्यवाद की यह कह सकना हमारे लिये कठिन है। किन्तु वस्तुस्थिति को बड़े ध्यान से देखने की आवश्यकता है।

योरप के तानाशाही शासन

जहां पर इंगलैंड में औद्योगिकवाद की बुराइयों के विरुद्ध प्रतिक्रिया ने अनेक परिमार्जक कार्यों के कारण अरुचिकर रूप धारण नहीं किया है वहां योरप के राष्ट्रों ने इससे कुछ कम अनुदार और अधिक उग्ररूप के संहारक साधनों का उपयोग किया है। हर हिटलर ने समाजवाद से प्रारम्भ कर औद्योगिकवाद की दौड़ को समुचित सुधारों से तेज करने के लिये एकाधिपत्य (तानाशाही) की स्थापना की है इटली ने राजतंत्र की ओट में एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना की है जो तानाशाही शासन से कुछ भिन्न नहीं है। किन्तु वह उन संस्थाओं द्वारा शासन चलाता है जो हिटलरवाद की तरह हिंसा के द्वारा काम नहीं करती। रूस एक कदम और आगे बढ़ा है और उसने उसके परिवार को खतम कर दिया है। जायदाद और व्यक्तिगत विदेशी व्यापार को मिटा दिया है और देश का शासन एक ऐसे दल द्वारा संचालित कर रहा है जिसकी सदस्य संख्या कुल आबादी का सौवां भाग भी नहीं है किन्तु रूस का उद्योग अपने को स्वावलम्बी बनाना है और उसके द्वारा प्रयुक्त साधन औद्योगिकवाद के ही हैं। सिर्फ उसके हानिकारक रूप नहीं हैं।

अतएव प्रत्येक अवस्था में बीसवीं शताब्दी में योरोप के अनेक राष्ट्रों द्वारा सामाजिक और आर्थिक दोनों अवस्थाओं में प्रचलित किये हुये परिवर्तन उन देशों में प्रचलित युगों से चली आती हुई व्यवस्थाओं के, बल्कि उनके विरुद्ध प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया—के प्रत्यक्ष परिणाम थे। लोगों ने बहुत दिनों तक कष्ट सहन किया और बहुत अधिक सहन किया और अब उन्होंने विद्रोह खड़ा कर दिया है। इन बातों से यह देखा जा सकता है कि प्रत्येक देश में समाजवाद या किसी दूसरे वाद ने सिर उठाया है। वह सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की दशा का सीधा परिणाम ही था, जिन्होंने ऐसा आन्दोलन उभाड़ने के लिये उनको मार्ग दिखाया है। अनेक स्थानों में आन्दोलन का जन्म केवल निराशा से हुआ है और लोगों के असंतोष को एक विशेष आदर्श द्वारा सामाजिक ढांचे और आर्थिक संगठन के अधिक सुन्दर रूप में सज्जित किया गया है जो कदाचित उसी आन्दोलन के प्रारंभिक रूप में विचारा भी नहीं गया था। भारत में भी देश भर में इसी प्रकार के असंतोष की भावनायें हैं साधारण आलोचक को उनके लिये जो उपाय तुरन्त सूझ पड़ते हैं वे ठीक वही मालूम पड़ते हैं जो पश्चिम के राष्ट्रों में उत्पन्न हुए हैं।

भारत की परिस्थितियाँ

किन्तु जब हम अपनी ही परिस्थितियों को कुछ विस्तार के साथ देखें तो यह अनुभव करना कठिन न होगा कि पूर्व (भारत) की परिस्थिति से, जिसके विरुद्ध हम पश्चिम के उपायों का उपयोग कर रहे हैं, पश्चिम की परिस्थिति में जो विद्रोह के आन्दोलन के कारण उत्पन्न हुई हैं, बहुत अधिक और गहरा अन्तर है। हम लोगों के देश में पश्चिम का औद्योगिकवाद नहीं है सब कुछ होने पर सारे भारत में सब नगरों की अनेक मिलों और

कारखानों में लगे सभी आदमियों की संख्या सिर्फ पंद्रह लाख ही हैं, जब कि कुल आबादी ३५ करोड़ है, जिसका ९/१० भाग खेतिहर पेशे वाला ही है। बम्बई के कारखानों के मजदूर भी आंशिक रूप से खेतिहर हैं जो प्रान्त के गांवों से आते हैं। और ह्विटले कमीशन ने ऐसे मिश्रित शिक्षण के लाभों का अनुभव किया है, हालांकि यह बात जरूर माननी पड़ेगी कि केवल औद्योगिक दृष्टि से देखने पर इस तरह का प्रबन्ध दुधारी तलवार का काम देता है।

कुछ भी हो असलियत यह है कि आबादी ९/१० भाग अब भी गावों में रहता है, जिसकी किस्मत उन गांवों के साथ गुथी हुई है जिनमें वह रहता है। जब ऐसी बात है तो नगरों की समस्यायें निःसंदेह ऐसी हैं जो राजनीतिक क्षितिज पर अधिक अटकी हुई है किन्तु जब नए आन्दोलन प्रारम्भ किए जा रहे हैं तो हम लोगों को अपनी आंखों के सामने सबसे आगे दिखाई पड़ने वाले दृश्यों और परिस्थितियों द्वारा प्रवाहित हो जाने के स्थान पर परिस्थिति की वास्तविकता को समझने का प्रयत्न करना आवश्यक होगा। विज्ञ आलोचक समाज को परिस्थिति की छानबीन करने और अपने तंई यह निर्णय करने के लिये तनिक अधिक मेल खाते हैं।

हम लोगों ने देखा है कि पश्चिम में लोगों के दृष्टि-कोण पर से औद्योगिकवाद की धाक किस प्रकार स्थिर रूप से कम होती जा रही है। इङ्गलैण्ड और जर्मनी दोनों राष्ट्रों ने, जो इसके निस्सीम प्रतिपादक रहे हैं कड़वे अनुभवों द्वारा यह अनुभव किया है कि आयात जो कच्चे माल और खाद्य पदार्थ ही होते हैं, के मुक़ाबले निर्यात जो देश में तैयार माल होता है की निरन्तर अधिकता पर अवलम्बित रहना एक असंभव बात है। यदि उद्योग धन्धों की ओर प्रवृत्त किसी भी राष्ट्र को अपने औद्योगिकवाद

के सिद्धान्त द्वारा सम्पन्न रहना हो तो उसे निरन्तर अपने औद्योगिक पदार्थों को दूसरे देशों में अवश्य ही निर्यात करते रहना होगा। किन्तु चूँकि केवल स्वावलम्बी होने के लिये ही नहीं बल्कि एक निर्यात करने वाला देश बनने के लिये उत्साह ही दूसरे राष्ट्रों के मनोवेगों को आधीनस्थ करने में प्रवृत्त करता है। इसलिये यह एक संघर्ष का मार्ग बन जाता है जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपनी बिक्री अधिक से अधिक करना चाहेगा और खरीद कम से कम और जब सभी राष्ट्र इसी प्रकार प्रवृत्त हो जायं तो अन्यत्र कमजोर राष्ट्रों के शोषण के मार्ग के अतिरिक्त उन्हें बाजार मिलना नामुमकिन हो जायेगा।

पूर्व का शोषण

अब तक पूर्व शोषण का अच्छा क्षेत्र बना रहा है किन्तु जब जापान पश्चिम के सब से अधिक औद्योगिक राष्ट्रों के सामने एक सफल प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उठ खड़ा हुआ है और चीन ने अपने युगों की मुर्दनी काट फेंकी है, भारत एक नवीन राष्ट्रीय-चेतना के साथ जागृत हो गया है, अफगानिस्तान और ईरान आज के अग्रगामी देशों के साथ कदम बढ़ा रहे हैं, फिलिस्तीन और सीरिया पश्चिम के प्रहारों से तेजी के साथ उद्धार पा रहे हैं और अन्तिम रूप से जब की टर्की योरप का फिसड्डी आदमी नहीं रह गया है तथा मिस्र विदेशी हाथों का खिलौना नहीं रह गया है तो इंगलैंड और जर्मनी के लिये शोषण का क्षेत्र कम से कम बचा हुआ माना जा सकता है। सौभाग्य से फ्रांस ऐसी अवस्था में है कि वह औद्योगिक और कृषि की उपज का संतुलन कर सकता है। इटली जो औद्योगिक की अपेक्षा कृषि-प्रधान देश अधिक है, अपने जिन कार्य क्षेत्रों में पिछड़ा हुआ था उनमें अपने को तेजी से स्वावलम्बी बना रहा है।

इन सब के विरुद्ध रूस ने अकेले ही और सफलता पूर्वक युद्ध किया है वह एक जबरदस्त योजना द्वारा अपनी जरूरत की सब चीजें उत्पन्न कर रहा है वह केवल कलों और मिलों, विशाल धौंकनियों को ही नहीं बनाता बल्कि, मांस का आयात बन्द करने के लिये पहिले ही पंचवार्षिक योजना में एक करोड़ तक खरगोशों को पालने में समर्थ हुआ है। इसके अतिरिक्त उसने विदेशी व्यापार का दरवाजा भी बिल्कुल जकड़ कर बन्द कर दिया है। और उस सम्बन्ध की सब बातों को कम से कम कर दिया है। व्यापार अधिकतया राज्य के मार्फत चीजों के पारस्परिक विनिमय द्वारा ही होता है और केवल अनिवार्य होने पर ही रुपये द्वारा होता है।

इस तरह पश्चिम के राष्ट्र स्वावलम्बी बनने के लिने बाध्य हो गए हैं और उदाहरणार्थ हम लोगों को संवाद मिल रहा है कि जर्मनी को अपने खाद्य पदार्थों का नियंत्रण कर रहना पड़ रहा है क्योंकि उसका निर्यात आयात के खर्च से पूरा नहीं पड़ सकता इसीलिए यदि पश्चिम के राष्ट्रों ने पूर्व विक्रय क्षेत्रों को खो दिया है और दूसरे के हाथ अपना तैयार माल नहीं बेच सकते तो उन्हें आत्म निर्भर और स्वावलम्बी होने के लिए विवश होना पड़ेगा। और जब वह अवस्था आ पहुंचेगी तो निर्यात के लिए माल की तैयारी रुक जायगी और देश के अंदर खपत के लिए उत्पादन रह जायगा तो लोग इस बात को कभी गवारा नहीं करेंगे कि कोई एक आदमी ही उत्पादक बन जाय और वे सब लाखों की संख्या में ग्राहक बने रहें, वह तो अपने लिए मुनाफा मार कर, धन बटोर, आकाशचुम्बी महल खड़े करे और वे झोपड़ों और गंदी जगहों में दिन काट कर सब्र करें। जब बड़े पैमाने पर माल तैयार होना बन्द हो जायगा, तो मजदूरों का काम ढीला पड़ जायगा, और बेकारी का उपाय केवल यही रह जायगा कि उत्पा-

दन के मुनाफे में संघ और सहयोग-समितियों द्वारा बटवारा कराया जाय वा प्राचीन ग्राम-उद्योग के मार्ग की ओर लौटा जाय। हम लोग कदाचित एक दूर का स्वप्न देख रहे हैं, किन्तु जब हम राष्ट्रों के भाग्यों की कल्पना कर रहे हों और सारे भविष्य के लिए ही योजना बना रहे हों तो अल्पदर्शी होने के स्थान पर कुछ अधिक दूर तक दृष्टि दौड़ाना अच्छा होगा।

भारत की सामाजिक–आर्थिक बनावट

कल्पनातीत वैभव और अप्रत्याशित कष्ट-सहन की डेढ़ शताब्दियों के पश्चात योरप ने जिस आत्म-निर्भरता और स्वावलम्बन के आदर्श और ग्राम उद्योग तथा हाथ की दस्तकारी की ओर फिर लौटने को अनिवार्य समझा है, सौभाग्य से वही भारत के युगों प्राचीन सामाजिक ढाँचे का आधार है जो समय और परिस्थितियों के धक्के तथा अनवरत आक्रमणों के प्रहार को सहन कर भी जीवित रह सका है। प्राचीन काल में हम लोगों के भी नगर थे जो संसार के काफिलों के लिए हम लोगों के "गंवारू मोतियों और सोने" के बाजार थे। वे देश में सम्पत्ति लाते थे, किन्तु आधुनिक भारत के नगरों की तरह देश का धन बाहर नहीं बहाते थे भारत मुख्यतया गावों का ही देश है क्योंकि एक दर्जन शहर और हजार दो हजार कस्बे उसके सात लाख गाँवों के मुकाबले क्या हैं। और ये गांव बिखरे हुए झोपड़े नहीं हैं बल्कि सुविभाजित आबादी के सम्यक रूप के समूह हैं जिसमें लोगों के सभ्य जीवन के लिये आवश्यक सभी दस्तकारियों का समावेश होता है। गांव की आबादी में बढ़ई और लुहार, राज और सुनार जिनमें एक घरों का निर्माता और दूसरा शोभा की वृद्धि करने वाला है, कातने वाले और बुनने वाले जुलाहे, छीपी और रंगसाज, धोबी और नाई, मोची और किसान, पुरोहित

और वैद्य, कवि और लेखक सभी रहते हैं, जो सब मिलकर राष्ट्रीयता की एक स्वावलम्बी पूर्ण इकाई बनाते हैं। अतएव यदि गांव का आवागमन का मार्ग बंद हो गया, या बाढ़ ने चारों ओर से घेर लिया या शत्रु ने घेरा डाल दिया तो उसको क्या चिन्ता हो सकती है।

यह अकेले हम लोगों के विशेष रूप से सौभाग्य की बात है हमारे पास एक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था अखंड रूप में है, जिसको पाश्चात्य देशों के अपने लिए पुनः खोज करनी पड़ रही है और जिसके पुनः स्थापन करने के लिए वे बड़ी कठिनाइयों के साथ प्रयत्न कर रहे हैं। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें सब के लिए निश्चित रूप से काम मिलने का अर्थ सबको भोजन और वस्त्र सुलभ होता है जब भोजन और वस्त्र निश्चित रूप से सुलभ हो तो फिर एक बार विश्राम भी सुलभ हो जाता है और विश्राम के पीछे विद्या और संस्कृत आती है तथा मानव आत्मा की लालसाएं, मनुष्य के उन्नतर जीवन के मार्ग खुल जाते हैं। सब लोगों को काम सुलभ होने का ही निश्चय प्रबंध नहीं है बल्कि पेशे करीब करीब पुश्तैनी बना दिए गए हैं, जिससे हाथ के कौशल और बुद्धि की सूक्ष्मता सुरक्षित रह सकें जिसने भारतीय शिल्प को महत्व का स्थान प्राप्त करा दिया, जो अब भी उसे प्राप्त है और जुलाहों तथा कुम्हारों को तत्ववेत्ता बना दिया। अतीत काल से भारतीय शिल्प के संघ विद्यमान रहते आए हैं, जो केवल उत्पादन की मात्रा पर ही नियंत्रण नहीं रखते थे, बल्कि उसकी उत्तमता पर भी ध्यान रखते थे, अतएव परिश्रम को तड़कीली-भड़कीली तथा सस्ती और रद्दी चीजें बनाना अपराध ही नहीं बल्कि पाप समझा जाता है। शिल्प कला केवल कलात्मक आदर्श द्वारा ही प्रभावित नहीं होती बल्कि धार्मिक श्रद्धा और भक्ति की भावना से संयोजित आदर्शवाद से प्रेरित होती है।

यही कारण है कि धार्मिक विश्वास के निषेध प्रतिद्वन्द्वात्मक प्रवृति की अनैतिकता के ऊपर सुचारु नियंत्रण का काम करते हैं। एक शब्द में ग्राम संगठन एक सहयोगात्मक लोकतांत्रिक राज्य है जहां पर—प्रत्येक सबके लिए और सब प्रत्येक के लिये—दृष्टि से लोग रहते हैं।

सावधानी की आवश्यकता

अतएव भारत की वर्तमान स्थिति में समाजवाद की योजना के प्रयोग करने का विचार करने के समय हमको उन विध्वंसों के कारण विचलित न हो जाना चाहिए जो कहीं कुछ उद्योगपतियों द्वारा घटित हुए हों वा कहीं बहु-संख्यक जमींदारों द्वारा अत्यधिक लगान लिए जाने के कारण किसानों के चूसे जाने के कारण हुए हों। हमको निस्सन्देह इन परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा, किन्तु देश की आवश्यकता का विचार करने के समय उनसे अत्यधिक प्रभावित हो जाने पर हम अपना संतुलन ही खो बैठेंगे। यह हम लोगों का सौभाग्य है कि हम लोगों को एक ऐसी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का उत्तराधिकार मिला है जिसमें सम्पत्ति और संस्कृति के बीच संतुलन रक्खा गया है। इसमें विद्या धन कमाने का साधन नहीं है, बल्कि सेवा के अधिकार-पत्र है, और इस बात का निर्देश किया गया है कि सम्पत्तिवान विद्वान का निर्वाह करे। विद्या का दरिद्रता से गँठबंधन कर दिया है, और सम्पत्ति को समाज में दूसरा स्थान दिया गया है। समाजवाद सम्पत्ति की प्रधानता के विरुद्ध विद्रोह मात्र है और उस विद्रोह का समाज की ऐसी व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है जिसमें ऐसी प्रधानता मिटा दी गई है।

वास्तव में भारतीय समाज उस विद्रोह के सुलझाव का परिणाम ही है और समय की कसौटी में सफल हो जाने पर उसे

एक बार फिर परीक्षा में सफल उतरने का अवसर देना उचित है। समाज संयोजक सूत्र धन नहीं, बल्कि सेवा है जो मूल्य का नया माप प्रस्तुत करता है। यह स्नेह का प्रमाण और संघबद्ध जीवन का स्तम्भ है जहाँ सेवा मानव-संबंधों का मूल आधार है वहाँ प्रेम वह स्रोत है जो सेवा भावना को अनुप्राणित करता है, और जहाँ प्रेम और सेवा समाज के आधार रूप हैं वहाँ शक्ति और सम्पति निम्न स्थान पाती हैं।

ये ही बातें अर्थात् शक्ति और उसके स्थूल स्वरूप सम्पत्ति पश्चिम में समाज के आधार हैं और वे वर्गों और साधारण जनता के मध्य युद्ध, सर्वव्यापी प्रतिद्वन्दिता की भावना, भौतिक सम्पत्ति की तृष्णा, साम्राज्य की आकांक्षा विक्रयक्षेत्रों की खोज और सैनिकवाद की भावना उत्पन्न करने के लिए उर्वरा क्षेत्र हैं। उनको मिटा दें वा उनका जोर कम से कम कर दें तो आप ऐसे समाज की रचना करेंगे जो अन्य सबसे बिलकुल भिन्न होगा। एक शब्द में हम अपने प्राचीन समाज को पुनः पा जाएंगे। आज बेशक उसके चारों ओर धूल जम गई है। धन प्राप्त करने के साधन रूप में ज्ञान के नए योरोपीय आदर्श ने पूर्व के विद्या के आदर्श को भ्रष्ट कर दिया है। शक्ति और प्रभुत्व की लिप्सा ने, जो वास्तव में सेवा के अवसर हैं, पिछली शताब्दी में मानव प्रकृति को पतित कर दिया है। हमें इन कोढ़ों, भ्रष्टताओं और अधःपतनों से बच कर निकलना होगा और उसके भीतर स्थित धातु को रगड़ कर स्वच्छ और शुद्ध करना होगा। जातियां लोगों की परम्परागत मेधा को संचित रखने की शक्ति रहने के स्थान पर विरोधों का दूसरा नाम सी रह गई हैं। इधर कुछ समय से ब्रिटेन की संरक्षकता में जातियों और समुदायों के हाथ में राजनीति के चले आने के कारण ये इतने अधःपतित हो गए हैं जिसका कुछ हिसाब नहीं। हम लोगों का तात्कालिक कर्तव्य वर्ण और आश्रम के आदर्शों

का पुनरुद्धार करना और उनमें उनके धर्म की पुनः स्थापना करना है ।

गाँधीवाद

जब किसी युग में कोई महान् पुरुष उत्पन्न होता है तो इस बात का पूर्ण निश्चय नहीं हो सकता कि उस पुरुष ने युग को बनाया वा युग ने उस पुरुष को बनाया । कदाचित सत्य दोनों के मध्य होता है वा दोनों में । गांधी जी और किसी रूप से भारतीय समाज के साथ हम यह मान सकते हैं कि इन दोनों ने एक दूसरे पर प्रभाव डाला है । समाज की परिस्थिति ने गांधी जी के प्राण और मानस की पुनर्रचना की है और गांधी जी ने भारतीय समाज पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगा दी है उन्होंने एक नए धर्म को जन्म दिया है जो हिन्दू समाज के चारों वर्णों और चारों आश्रमों के पृथक पृथक धर्मों का सम्मिश्रण है । गांधी जी ने अपने व्यक्तित्व में कृषक और जुलाहे, व्यापारी और व्यवसाई, युद्ध करने वाले और रक्षक योद्धा, अंततः जनता के सेवक के गुणों का संयोग किया है और अपनी सेवा तथा प्रेम भावना से उच्च बन कर स्मृतिकार और सूत्रकार का पद प्राप्त किया है उन्होंने अपने में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी के धर्मों का भी समावेश किया है । जीवन के आदर्शों में, जो एकांगिक माने जाते थे, सामंजस्य और समन्वय स्थापित कर दिया है और वे व्यापक और सर्वांगीण बना दिए गए हैं ।

गांधी जी अनुभव करते हैं कि आज चार वर्णों का अस्तित्व नहीं रह गया है । इसलिये जो वर्णों में विश्वास करते हों उनका कर्तव्य है कि पवित्रता और आत्मसंयम के महान सिद्धान्तों द्वारा उसका पुनर्स्थापन करें । इस प्रकार उन्होंने प्रयत्न किया है कि हिन्दू समाज के स्वर्ण धातु पर जमी हुई मैल दूर की जाय और

प्रेम तथा सेवा के आधार पर उसकी एक बार फिर पुनर्रचना की जाय। 'सर्वे जनः सुखिनो भवन्तु' (सब लोग सुखी होवें) इस प्रार्थना का आदर्श एक बार फिर लोगों में संचारित किया जा रहा है जो इस मन्त्र का उच्चारण तो दिन में तीन बार करते हैं, किन्तु इसका अभिप्राय नहीं समझते। इस दृष्टि से गांधी जी ने स्वराज्य का अर्थ शक्ति और सत्ता का उपयोग नहीं बतलाया बल्कि प्रेम और अहिंसा के सिद्धान्त के प्रचार द्वारा सब के लिये भोजन और वस्त्र की प्राप्ति बतलाया। किन्तु और वस्त्र आसमान से नहीं फट पड़ते। उनके लिये परिश्रम और प्रयत्न करना पड़ता है। इस उद्देश्य के लिये गाँधी जी ने शारीरिक श्रम और उसके आदर्श स्वरूप सूत कातने के सिद्धान्त का प्रचार किया है और प्रत्येक पुरुष स्त्री तथा बच्चे के लिये समान रूप से कताई को दैनिक यज्ञ निर्धारित किया है। इस प्राचीन भूमि की जनसंख्या के बल में जो गणना में केवल चीन देश से ही कम है, उन्होंने एक ऐसे धन का शक्ति-स्रोत ढूंढ़ निकाला है जो सारे संसार में अभूत पूर्व है। वह वास्तव में ऐसा शक्तिस्रोत है जो व्यापार के संतुलन, विक्रय क्षेत्र, साम्राज्यवाद सैनिकवाद, विनिमय, व मुद्रा के दर की घटती बढ़ती, व वैज्ञानिक आविष्कारों और अनुसंधानों पर निर्भर नहीं करता। यंत्रों की प्रतिस्पर्द्धा इन प्रबल शक्ति के धनों को खतरे में नहीं डाल सकती, क्योंकि वे सादा जीवन और उच्च विचार, कठिन परिश्रम और ईमानदारी की कमाई के सरल आदर्श पर अवलम्बित होते हैं।

गांधी जी का सिद्धान्त नकारात्मक बातों का सिद्धान्त नहीं है यह किसी ऊँची प्रतिस्पर्द्धा की बड़ी शक्ति के सामने झुकने का मार्ग तो और भी नहीं है। जब विचार संयमित होते हैं और स्नेह भावनायें स्थिर हो जाती हैं, तो माता की सब से तुच्छ देन भी बहुमूल्य हो जाती हैं और विदेशों से आने वाली सबसे

मूल्यवान चीजों के सामने भी देश में सिक्का जमाए रह सकती है। इसके विपरीत गांधी जी ने चीजों को सस्ती तैयार करने का गुण बता दिया है; जिसमें मजदूरी का खर्च नहीं रक्खा गया है जो मुफ्त होती है क्योंकि वह मजदूरी विश्राम के समय और प्रेम भावना के कारण की जाती है और वह ठेकों पर की गई मजदूरी नहीं होती। इस प्रकार यह ज्ञात होगा कि वे मनुष्य की प्राथमिक आवश्यक—भोजन और वस्त्र—के लिए एक स्वावलंबन का मार्ग बतलाते हैं। और जहाँ मनुष्य स्वावलम्बी हैं, वहाँ गाँव स्वावलम्बी हैं, कस्बे स्वावलम्बी बनेंगे, और नगरों का झुकाव स्वावलम्बी बनने की ओर होगा। और यह सब कुछ सफलता रक्तपात कर व बल का प्रयोग कर नहीं प्राप्त की जायगी, बल्कि सतत अधिकार प्रदर्शन के स्थान पर केवल कर्तव्यों की मामूली स्वीकृति से, बलात श्रम के स्थान स्वेच्छा के कार्य से, बल-प्रदर्शन के स्थान पर प्रेम के संचार से, महत्वाकाँक्षा के स्थान पर संतोष से, जीवन यापन का मापदण्ड उठाने के स्थान पर गिराने से, विषयोपभोग की जगह आत्मसंयम से, कूटनीति व पाखंड के स्थान पर सच्चाई से होगी।

गांधीवाद बनाम साम्यवाद

यदि समाजवाद का उद्देश्य सबको समान सुविधायें प्रदान करना है तो गांधीवाद का लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति के समग्र और सुविधाओं का उपयोग एक ऊँचे उद्देश्य के लिये करना है। समाजवाद जायदाद को छिन्न करने के लिये पूँजी-कर, भारी अतिरिक्त कर जब्ती और शक्ति का उपयोग करता है तो गांधीवाद राष्ट्र की युगों पुरानी परम्परा का हाथ पकड़ता है जिसने निर्धनता को धन के ऊपर और विद्या को सम्पत्ति के ऊपर बैठाया है। जहां समाजवाद अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये

राज्य की सहायता लेता है, गांधीवाद अपनी सफलता के लिए राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के अंतःकरण की कोमलता और संस्कृति के विकास पर निर्भर करता है। समाजवाद के बाहर से लादे हुए परिणाम भड़कीले मालूम होते हैं किन्तु वास्तव में अनिश्चित और जोखिम सहित भी होते हैं, गांधीवाद के परिणाम छोटे दिखने पर भी लोगों की भक्ति भावना में दृढ़ और गहरी जड़ जमाते हैं। समाजवाद ने अपने सिद्धान्त-प्रतिपादकों को अपने सिद्धान्त और प्रभुत्व को स्थिर रखने के लिये अधिनायक का रूप धारण करने का दुखद दृश्य देखा है। गांधीवाद आत्म-त्याग की स्वेच्छा वृत्ति पर अवलम्बित होता है, और इसने गोपालदास देसाई, संगली के ठाकुर, ढसा के दरबार और कालाकांकर के राजा सरीखे व्यक्तियों का उदय देखा है। समाजवाद अधिकांश लोगों के लिये एक प्रवृत्ति है किन्तु गांधीवाद एक ठोस सत्य है। समाजवाद दूसरों को उपदेश करता है कि उसको क्या करना चाहिये किन्तु गांधीवाद प्रत्येक के लिये निर्धारित करता है कि उसका क्या कर्तव्य है। समाजवाद घृणा और फूट द्वारा मानवता का प्रचार करना चाहता है गांधीवाद मानवताकी सेवा करने के लिये घृणा और फूट का त्याग करता है। समाजवाद एक ऐसे देश में खाद्य पदार्थ एकत्र करता है जहां कुछ क्षेत्र ऊसर हैं और उन्हें फिर वितरित करता है। गाँधीवाद ऐसे देश में प्रत्येक व्यक्ति को अपना भजोन और वस्त्र उत्पन्न करने के लिये कहता है जिसमें प्रत्येक तरह की मिट्टी, और धरातल, और प्रत्येक प्रकार की ऋतु तथा परिस्थितियाँ हैं। समाजवाद मजदूरी का हिसाब रखता है और सबको राज्य के लिए काम करने के लिए कहता है, गांधीवाद प्रत्येक स्त्री और पुरुष के व्यक्तियों के प्रत्येक समूह की परम्परा के अनुसार काम करने की उदारता संसार के सामने रखता है। समाजवाद एक ऐसे समाज की

सम्पत्ति के समान विभाजन का प्रयत्न करता है जिसमें परिवार तक में असमानतायें भरी हुई हैं—गांधीवाद भारत के उत्तराधिकार में विषयक कानूनों से लाभ उठाता है, हिन्दुओं के उत्तराधिकार में सभी पुत्रों को समान भाग मिलता है तथा मुसलमानों में लड़कियों को भी बराबर भाग मिलता है। समाजवाद पश्चिम की राजनीतिक व्यवस्था की व्याधियों के लिये इलाज हो सकता है किन्तु गांधीवाद उस समाज की रचना और कर्तव्यों की व्याख्या है जिसका निरूपण ऋषियों ने हज़ारों वर्ष पहले किया था और जिसको दूसरा ऋषि पुनर्जीवित करने के लिये उद्योग कर रहा है। इसी कारण गाधी जी ने स्वयं करांची में कहा था, "गांधो मर सकता है, किन्तु गांधीवाद सदा जीवित रहेगा।"

—— ——

अध्याय ६

भारतीय राष्ट्रीयता का संयोजन

प्राचीन और नवीन का सुन्दर समन्वय

हम संसार की विभिन्न सभ्यताओं को प्राचीन और नवीन दो भागों में बांट दिया करते हैं, लेकिन वे अंगतः दो भिन्न रूप की नहीं हैं। यह बात नहीं है कि रचना और कार्य दृष्टि से इन दोनों में अन्तर नहीं है, बल्कि कोई वस्तु "आधुनिक" नाम की ऐसी नहीं है जिसमें "प्राचीन' का भी कुछ तत्व मिश्रित न हो इसी प्रकार ऐसी कोई वस्तु "प्राचीन" भी नहीं है जिसमें 'आधुनिक धक्कों पर अपना प्रभाव न डाला हो, नदी की तलहटी के पानी को कौन आदमी विभाजित कर यह बतला सकता है कि उसका यह भाग इस वर्ष के ताजे पानी का है और दूसरा भाग पिछले वर्षों का है जो समुद्र में समाविष्ट होने से बच गया है, और इसमें भी क्या, यदि वे इस प्रकार समाविष्ट न हुए हों क्योंकि क्या आकाश के बादल मंगल व अन्य ग्रहों से पानी लाकर नहीं बरसाते? वे हमारे पास फिर भाप रूप में लौटा लाते हैं जो पिछले वर्ष नदी व समुद्रों से उत्पन्न हो गया होता है।

इसी प्रकार सभ्यता के आधुनिक तत्व हैं, वे विचारों के खोखले गर्त्त वा भावनाओं के शून्य स्थान से बिलकुल नए उत्पन्न नहीं हुए हैं, वे केवल सामाजिक. आर्थिक और नैतिक लोकमान्य गुणों के केवल संयोग व क्रम-परिवर्तन मात्र होते हैं, जो अनन्त काल के चक्र परिवर्तनों के साथ कम या अधिक महत्व प्राप्त करते हैं। विचार और आदर्श जो युगों से प्रचलित और कालों से मर्यादित होते हैं परिस्थितियों के बदलने पर असंगत रूप समझे जाकर ठुकरा दिये जाते हैं। जिन सिद्धान्तों

पर हजारों वर्ष पहले समाज का ढाँचा निर्मित हुआ था उन्हें ऐसी जातियों व राष्ट्रों से सम्पर्क होने पर अवश्य ही परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है जो अपने जन्म के समय एक दूसरे को नहीं जानते होते।

प्राचीन का नया नाम

इस प्रकार हम इटली में सीजर के पुनः अवतार रूप में मसोलिनी को देखते हैं जहाँ सात सदियों तक पराधीनता के बाद पुनरुत्थान हुआ है और सारे देश का एकीकरण हुआ है, तथा अर्ध पश्चिमी और अर्ध पूर्वी रूस के देश में पुराणों में वर्णित सतयुग के आदर्शों की स्थापना देखते हैं। हम केवल नाम देते हैं और नए शब्दों का उपयोग करते हैं. सम्राट तानाशाह व डिक्टेटर नाम पाते हैं जन-पद संग प्रजातंत्र संघ का नाम पाते हैं और 'सोवियट" नाम धारण करता है, पारिभाषिक नामावली और शब्दावली का काल चक्रानुसार पुनः प्रयोग केवल अप्रचलित सूत्रों और खंडित सिद्धान्तों का पुनरावर्तन मात्र नहीं है बल्कि वे प्राचीन नियमों और सिद्धान्तों के नए युग के अनुकूल कुछ परिवर्तन के साथ प्रयोग हैं और यह क्रम कुछ धीमे और मन्द रूप में होता है जिसका नाम विकास दिया जाता है। फिर भी प्रत्येक युग और प्रत्येक काल का इतिहास बल के प्रयोग को सदा प्रदर्शित नहीं करता, जो अनुलंघनीय थोड़ी होती है धृष्ट अधिक होती हैं और जो पारस्परिक स्वीकृत से क्रान्ति उपस्थित करती है। भूतकाल और वर्तमान काल के भी महान विप्लव हिंसा के ही फल रहे हैं, और यह भारतवर्ष तथा भारतीय राष्ट्रीय महासभा के लिये ही काम छोड़ा गया है कि वह राष्ट्रीय जागृति की नई योजना निर्धारित करे, जो पाशविक रूप मे प्रत्युक्त भौतिक बल के प्रचलित और परम्परागत साधनों द्वारा न हो बल्कि सत्य और

अहिंसा पर अवलम्बित साधनों के धीमें उपयोग से हो, जो कम शक्तिशाली वा कम प्रभावोत्पादक नहीं है।

कांग्रेस का सच्चा लक्ष्य

कांग्रेस ने इस प्रकार चुनाव में भाषण देकर और सत्ता प्राप्त कर एक राजनैतिक दल रूप पाने के लिए ही नहीं काम किया है बल्कि सुधार के विश्वव्यापी अस्त्र के साथ किया है जो अपना लक्ष्य पाशविक बल के स्वत: फैलने वाले विष के पूर्ण विनाश, युद्ध तथा विद्वेष का लोप और शान्ति तथा सहानुभूति की निर्णायक शक्ति को ही प्रभुत्व प्रदान करना जानता है। कांग्रेस एक ऐसा दल हो सकता है जिसकी संख्या का दल नियमित हो जिसकी सफलता सन्दिग्ध हो किन्तु नैतिक युद्ध में संख्या का कुछ अर्थ नहीं होता तथा सफलता और विजय केवल आपेक्षिक शब्द हैं जिनका अर्थ युद्ध का केवल एक और अन्तिम रूप नहीं होता, बल्कि उस अन्तिम परिणाम तक पहुंचने वाले क्रमागत रूप और साधन ही वास्तव में होता है। जब हम यह जानते हैं कि रूस में जहां जन संख्या ८ करोड़ थी वहां सोवियट दल के व्यक्तियों की संख्या १९३० में केवल ५ लाख थी तब हम तुरन्त समझ सकते हैं कि राष्ट्रीय उद्धार के आन्दोलन केवल जन-संख्या द्वारा नहीं बल्कि कार्य शक्ति द्वारा नापे जाने चाहिए।

कांग्रेस उस भट्टी के नीचे की आग है जिसमें दासता और पराधीनता के प्राचीन विचार उबाले जाकर आत्म निर्भरता और आत्मानुभूति का सत निकाला जाता है. कांग्रेस एक भारी पहनावे की तहों में रक्खी हुई कस्तूरी का कण है जो अपनी सुरभ्य सुगंन्धित को समस्त कपड़ों में परिव्याप्त रखती है, कांग्रेस बिजली का डाइनमो है जो हवा और पिट्रोल के मिश्रण को स्फोटित करने वाली लुत्ती उत्पन्न करती है और भारतीय राष्ट्रीयता के यंत्र को चालित करती है।

एक शब्द में कांग्रेस वट का बीज है जो कालान्तर में अंकुरित होता है और भावी वृक्ष के रूप में हो जाता है जहां पशु और पक्षियों को समान रूप से आश्रय मिलता है। कांग्रेस एक राजनैतिक दल नहीं है जिसका काम शासन की कुछ शिकायतों के लिये आवाज उठाना है और न यह सामाजिक सुधार का संगठन है जिसका उद्देश्य समाज के रीति रिवाजों का परिवर्तन करना है और न यह आर्थिक नई रचना संघ है जिसका उद्देश्य खपत के लिए बड़े पैमाने पर उत्पादन कराना है और न यह कोई मजहबी जमैयत है जिसका लक्ष्य लोगों में एक ईश्वर के प्रति विश्वास स्थापित कराना और उस ईश्वर की अराधना सत्य रूप में कराना है।

कांग्रेस यह सब कुछ है और उससे अधिक भी, यह राष्ट्रीय शक्तियों का सर्वाङ्ग और व्यापक संगठन है जो अपने संयुक्त प्रयत्न द्वारा हिन्दू संस्कृति को पुनः खोजने और पुनः अखंड बनाने की इच्छा रखते हैं, इस लक्ष्य पूर्ति के लिए भारत को विदेशी शासन हटाना पड़ेगा, सामाजिक ढांचे का पुनर्निर्माण करना पड़ेगा. आर्थिक प्रगति को व्यवस्थित करना होगा, और सत्य अहिंसा के उच्च आसन पर मानवता के एक देव की, त्याग और सेवा से पूजा किये जाने वाले एक नए धर्म, देशभक्ति के धर्म की स्थापना करनी होगी।

नवीन और प्राचीन का मिश्रण

जब हम कांग्रेस के उद्देश्य को इतने विस्तृत रूप में ग्रहणशील आधार पर समझ लें तो कांग्रेस कार्य-क्रम के अनेक विषयों के उतने ही विस्तृत क्षेत्र को समझ सकते हैं, जहां कांग्रेस का प्रथम कर्त्तव्य दासता की छाई हुई भावना और उसके द्वारा उत्पन्न हम लोगों की नागरिकता की भावना पर के कुप्रभाव को मिटाना है, वहां कांग्रेस का मुख्य कार्य उन रचनात्मक सुधारों का मार्ग

निश्चित करना है, जिसके उचित संयोजन से भारतीय राष्ट्रीयता आधुनिक राष्ट्रों की दृष्टि में अच्छा स्थान पा सकती है।

भारत वास्तव में जीवन के संक्रान्ति काल में है, और उसे सूझ नहीं पड़ता कि किस रास्ते जाय, चाल्डिया, बैबिलोनिया और असीरिया की प्राचीन सभ्यताएं अपना व्यक्तित्व प्रायः खो चुकी हैं, भारतीय और चीन की सभ्यताएं भी यदि अपनी अन्तर्वर्त्ती महान् सजीवता और लचीलेपन से युक्त न होतीं तो वे भी अपनी सहयोगिनियों के मार्ग पर ही गई होतीं। वे अपने ऊपर विरोधी शक्तियों का प्रभाव देख रही हैं वे अपनी अमिट पैतृकता और उनके आकर्षक किन्तु क्षणस्थायी वातावरण पर मुख्य प्रभाव रखने वाले विचार के मध्य उद्वेलित हो रही हैं। उनके पूर्वजों का सुनहला भूत काल पुनः अलभ्य है और उसके पाश्चात्य प्रतिद्वन्दियों का लौह वर्तमान अनुकरणातीत है, प्राचीन और नवीन की तुलना उज्ज्वल किन्तु भयानक है, सहयोग की प्राचीन भावना मृत हो चुकी है संघर्ष की नई भावना संहारक है, हाथ का प्राचीन कौशल लुप्त हो चुका है और कल का नया कौशल परीक्षित हुआ है और असन्तोष जनक पाया गया है, प्राचीन स्मृतिकारों ने निर्धनता का विद्वत्ता से संयोग किया, आज के साम्राज्य संस्थापकों ने विद्या को धन की कुंजी बना दिया है, प्राचीन आदर्शों ने धन को तिरस्कृत किया, आधुनिकों ने इसको जीवन का सर्वस्व बतलाया है, प्राचीन युग का सिद्धान्त-वाक्य "कर्त्तव्य" था, आज के समय का नारा "अधिकार" है, भूतपूर्व सभ्यता की अनुक्रमणिका चर्खा था। आज के युग का निर्घंट मशीन का चक्का है।

भारत जीवन के इन दो विभिन्न तथा विरोधी रूपों के मध्य टक्कर खा रहा था, कांग्रेस ने एक दूसरे के साथ सामंजस्य करने और परमार्थनिष्ठ आत्मा की उत्कट अभिलाषा तथा विश्व-विजय की पार्थिव इच्छा के व्यक्ति महत्वाकांक्षाओं का समन्वय करने

का काम अपने हाथ में लिया है, प्रायः प्रत्येक युग, प्रत्येक काल, प्रत्येक देश, और प्रत्येक पीढ़ी को ये सामंजस्य प्रस्तुत करने पड़ते हैं और कांग्रेस एक ऐसे काम में लगी है, जो आज की परिस्थिति के विचित्र रूप के कारण मात्रा में नहीं तो प्रकार में चाहे जितना कठिन हो किन्तु यह बिल्कुल वही काम है जिसे हमारे "शास्त्रकारों" और हमारे "पैगम्बरों" हमारे "ऋषियों" और हमारे "औलियों" को अपने समय में करना पड़ा था, और उन्होंने "उपनिषदों" और "हदीसा" तथा "शास्त्रों" और 'शरियत" द्वारा उन्हें सफलता-पूर्वक पूर्ण किया था।

पश्चिम का प्रभाव

भारत की समस्या केवल विदेशी शासन ही हटाना नहीं है, भारत ने पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में डेढ़ सदी बिताई है, और उसकी अनेक रीतियों और प्रथाओं को ग्रहण कर लिया है, उसने अपनी संस्कृति का त्याग कर दिया है और अपने शासकों की संस्कृति में लीन हो गया है, भारतीय समाज की रचना पश्चिमी समाज की भांति हो रही है, शादी और तलाक के विचार, स्त्रियों की स्वतन्त्रता, अंग्रेजी शिक्षा, विश्वविद्यालय की उपाधियों की तृष्णा सरकारी नौकरियों की चाह, न्याय का विचार, गवाही के कानून, जायदाद की तबदीली, इकरारनामों की शर्तें, मनोवेगों का नियंत्रण, बुद्धि की प्रधानता, भौतिक शरीर और जीवन में उसके आनन्द की ओर बहुत अधिक प्रवृत्ति सस्ती और भड़कीली पोशाक की चाह, कला और शिल्प के क्षेत्र में कल के सामने मनुष्य की अनावश्यकता, जड़वादी भौतिकवाद की साधारण प्रवृत्ति, पारमार्थिक वृत्ति की न्यूनता और एक स्पष्ट स्वार्थ-भावना—ये ही राष्ट्रीयचरित्र के कुछ उल्लेखनीय रूप हैं जो पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क के कारण सामने आए हैं।

गाँधी जी का संयोजनात्मक सिद्धान्त

कांग्रेस ने अपनी आंखों के सामने इन भावनाओं को उत्पन्न होते देखा है और १६०६ ई० में स्वदेशी की आवाज उठने से इसकी ओर राष्ट्र का ध्यान जा सका, गाँधी जी सन् १९२० ई० में क्षेत्र में उतरे, और तब से उन्होंने एक नया संयोजन चालित किया है, हर एक "संयोजन" (Synthesis) "योजन" (Thesis) और "वियोजन" (Antithesis) का फल होता है। अपना सिद्धान्त प्रतिपादन करने में गांधी जी को स्वभावतः कुछ नई बातों का प्रतिकार करना पड़ा जो देश के धन कोष की विनाशक थीं, और प्रतिकार के कारण उनकी शिक्षाओं को लोगों ने तुरन्त ही निषेधात्मक सिद्धान्त की पदवी दी। विचार द्रव्य की तरह अभेद्य होते हैं। नए विचारों को पुराने के स्थान पर रखने के लिए पुराने विचारों को निश्चय ही खंडित करना पड़ता है, नए विचार नए होने के कारण उनका मूल्यांकन नहीं हो सकता, इस कारण लोग उनके लिये अपने पुराने विचारों को बदलने में अनिच्छुक होते हैं, जो उनका काम अर्से से चलाते आ रहे होते हैं, इसी कारण सभी नये सिद्धान्तों को नकार की गंध वाला कहा जाता है, उनमें नकारात्मक बात होती भी है किन्तु उन्हें निश्चित रूप और अंग का अवलम्बन भी प्राप्त होता है विदेशी कपड़े के वहिष्कार का अर्थ नग्नता का समर्थन करना नहीं है, बल्कि उसमें स्वदेशी कपड़े— विशेषतया खद्दर—तैयार करने का भाव निहित होता है। कचहरियों के वहिष्कार का अर्थ बदअमली नहीं है बल्कि उसमें समाज के बड़ों द्वारा तत्काल ही पूर्ण न्याय चलाने की प्रथा चलाने का समावेश होता है, धारा सभाओं के वहिष्कार का अर्थ कानून की जड़ खोदना नहीं है, बल्कि लोगों के सच्चे प्रतिनिधियों द्वारा कानून का बनाना है। कालिजों के बहिष्कार का अर्थ अज्ञान और अंधविश्वास की अवस्था उत्पन्न करना नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय

भाग्य-निर्माण की ओर प्रेरित, राष्ट्रीय नियंत्रण में राष्ट्रीय ढङ्ग पर राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार करना है, अतएव कांग्रेस के सामने एक भारी काम है, यह जटिल रूप का है, और विहित स्वार्थों की भावना के कारण उत्पन्न कठिनाइयों से भरा हुआ है फिर भी कांग्रेस ने विभिन्न रूप के एक कार्य-क्रम को हाथ में ले लिया है, जिसमें एक केन्द्रित संगति है, हम यहाँ पर यह अध्ययन करेंगे कि कांग्रेस के कार्य-क्रम के ऊपर से दिखाई देने वाले विषयों में यह संगति कहाँ पर मिलती है।

दोहरा कार्य-क्रम

पिछले पन्द्रह वर्षों में कांग्रेस ने एक दोहरा कार्य-क्रम का पालन किया है जैसा कि सरकार भी करती रही है, सरकार ने अपने कार्य-क्रम को दमन और सुधार वाला बतलाया है, एक ओर वह लोगों की महत्वाकांक्षाओं का दमन करती है और इसकी ओर वह ऐसे काम करती है। जो उसके अनुसार उन महत्वाकांक्षाओं की आधी पूर्त्ति करती है। हम लोगों का कार्य-क्रम भी सरकार की तरह ही है, हम अपनी महत्वाकांक्षाओं को प्रकट करते हैं और उनको दो ढङ्ग से सिद्ध करते हैं, जब हम लोग मिलते हैं तो सरकार से बाधा पड़ने पर उसका मुकाबला करते हैं और हम मुकाबला कर रहे हों वा नहीं हम सदा अपने एक रचनात्मक कार्य में लगे रहते हैं, राष्ट्रीय कार्यों की रचना व पुनर्रचना छोटा काम नहीं है, इसके लिए असीम धन कोष की आवश्यकता होती है, जो तत्कालीन सरकार के मुकाबले काम करती हुई, सार्वजनिक सभा के पास नहीं हो सकता, इसके लिये जनता का सहयोग की आवश्यकता होती है, अब आत्म निर्भरता के सिद्धान्त की व्याख्या की जाती है तो उपदेशक और नेता पुराने कानूनों वा असहयोगियों के लिये गढ़े गये नये कानूनों को पकड़ में लाये जाते हैं।

इन जटिल परिस्थितयों में कांग्रेस राष्ट्रीय पुनर्रचना के प्रत्येक रूपों व विभागों से उसकी अपनी सत्ता को मुश्किल से ही छू सकती है, आर्थिक सुधार के क्षेत्र में हम लोगों ने खद्दर के धन्धे का पुनरुद्धार किया है और उसे एक दृढ़ आधार पर रक्खा है, इस छोटे दिखलाई पड़ने वाले परिणाम के लिये एक पूरा आन्दोलन उठाना पड़ा १९२०—२५ के कष्ट सहन से यह स्थायी फल मिला है जिसने यद्यपि भारत में पूर्णतया खद्दर का प्रचार नहीं किया है तथापि नौदशांश विदेशी कपड़े को इस प्राचीन भूमि के समुद्रतट से खदेड़ सकने में समर्थ हो सका है।

यह ठीक है कि भारत आर्थिक क्षेत्र में स्वावलम्बी हो सकेगा किन्तु वह केवल विदेशी के प्रति तिरस्कार को भावना रख कर ही अपनी उन्नतिशील राष्ट्रीयता को स्थिर नहीं रख सकता, उसमें बराबरी की भावना उत्पन्न होनी चाहिये, कुछ जनसंख्या के पंचमांस को 'अछूत'' समझने की दीर्घ कालीन बुराई ने, जो राष्ट्रीयता के ऊपर एक धब्बा है और मानवता के प्रति एक अपराध है, संसार का ध्यान अपनी ओर खींचा है। यह निस्संदेह सत्य है कि एक दशक तक कांग्रेस के साथ समाज सुधार के कार्य-क्रम सहित एक सामाजिक सभा हुआ करती थी और जब १८९५ ई० में इस प्रश्न पर विवाद उठा कि कांग्रेस का समाज सुधार की योजना के साथ सीधे सम्बन्ध होना चाहिये, तो वह शान्ति पूर्वक पूना के अधिवेशन में (१८९५) श्रीयुत महादेव गोविन्द रानाडे द्वारा तै हो गया, किन्तु समाज सुधार को कांग्रेस सौतेले पुत्र की तरह ही मानती रही किन्तु १९२० से गांधी जी के उग्र कार्य-क्रम ने कांग्रेस के दृष्टकोण को विस्तृत कर दिया और राजनैतिक सुधार तथा समाज सुधार के मध्य स्थित भेद-भावना को मिटा दिया। कांग्रेस ने हिंदुओं के अछूतपन को सबसे बड़ी सामाजिक बुराई को दूर करने में कितनी सफलता प्राप्त की है

यह सबको ज्ञात है, गांधी जी ने राष्ट्र की चेतना इस ओर जागृत करने के लिए अपने को मृत्यु के दरवाजे पर खड़ा कर दिया और उन्होंने जागृत भी की।

तीन कड़ियां

तीन कड़ियां जिन पर भारतीय राष्ट्रीयता की इमारत खड़ी की जाती है, लार्ड इर्विन के बताये अनुसार संघ शासन, केन्द्रीय उत्तरदायित्व और भारतीय स्वार्थों के संरक्षण नहीं हैं बल्कि खद्दर, अस्पृश्यता निवारण और शराबबन्दी है, १९२१—२५ के आन्दोलन ने आर्थिक क्षेत्र में खद्दर की जड़ जमाई, १९३०—३४ के आन्दोलन में सामाजिक क्षेत्र में अस्पृश्यता का भूत भगाया गया, अब तीसरी बात शराबबन्दी रह जाती है, जिसको नैतिक क्षेत्र में पूरा करना है, मुमकिन है इसके लिए एक पूरे आन्दोलन की आवश्यकता हो अथवा गांधी जी को फिर मरणासन्न होने तक उपवास करना पड़े, किन्तु इसके लिये चाहे अधिक बलिदान की आवश्यकता हो चाहे कम यह राष्ट्रीय इमारत के त्रिभुज की तीसरी भुजा है जिसे खड़ा करना है।

कांग्रेस किसी एक विशेष वर्ग व जन संख्या के विशेष अंग व जाति का रक्षण-स्थान नहीं है। इसने सभी श्रेणियों, भेदों और जातियों, विशेष कर देश की गरीब प्रजा के दुखों को दूर करने का काम अपने ऊपर लिया है, प्रारम्भ काल में कांग्रेस के सामने इन्हीं सब का मुख्य प्रश्न था, और १९१७ के बाद राष्ट्र के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ जब कि गांधी जी ने विहार में सीधे कांग्रेस के अधीन नहीं बल्कि स्वयं ही चम्पारन की समस्या हाथ में ली, १९१७ में जहां गांधी जी ने विहार के किसानों की रक्षा के लिए कैद की परवाह नहीं की वहां अहमदाबाद में मिल के मजदूरों की रक्षा के लिए भी दूसरे वर्ष जेल जाने की परवाह न की।

और जब चम्पारन, अहमदाबाद में सत्याग्रह के प्रारम्भिक प्रयोगों की परीक्षा हुई तो सत्य और अहिंसा की एक नयी युद्ध-कला सामने आई, जिसे कांग्रेस ने स्वीकार किया और इस नये अस्त्र के द्वारा ही कांग्रेस ने आर्थिक, सामाजिक और नैतिक क्षेत्रों के सर्वाङ्गीण सुधार, जिनके संयोग से राजनैतिक क्षेत्र तैयार होता है का कार्य-क्रम अपने हाथ में लिया, राजनीति मानव कल्याण का कला और विज्ञान ही है। और इस प्रकार उसको अनेक टुकड़ों में नहीं काटा जा सकता, यह बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक की एक भारी सफलता है जिसने दुनियाँ का ध्यान पश्चिम से पूर्व की ओर, दूसरे देशों की अपेक्षा अपनी ही ओर तथा बाहर से लादे गए आन्दोलन के स्थान पर आन्तरिक पुनरचना की ओर ही आकर्षित किया है।

स्वराज्य का वास्तविक अर्थ

जब एक बार राष्ट्र ने यह मान लिया कि राष्ट्रीय उद्धार का अर्थ आत्मानुभव है तो इसने गम्भीरता के साथ बम्बई में इस सिद्धान्त का सारे देश में प्रयोग करने के तरीके अख्तियार किए, जिससे खद्दर का पुनरुद्धार प्रारम्भ हुआ, खद्दर वास्तव में ग्राम धन्धों का राजा है, और यदि खद्दर जैसे मृत धन्धे का पुनरुद्धार करना वास्तव में युक्ति-पूर्ण और जीवन-प्रद है तो भारत के गांवों के अन्य मृत अथवा लोप होते जाने वाले धन्धों का पुनरुद्धार भी उसी प्रकार युक्ति पूर्ण और जीवन प्रद है। इन लुप्त शिल्प कलाओं के पुनरुद्धार की कहानी अवश्य ही एक पुरानी कहानी है, किन्तु कांग्रेस के पिछले दिनों के कार्य के विभिन्न पहलुओं की आलोचना करते समय उसे एक बार फिर कहना पड़ेगा :—

भारतीय स्वराज्य की समस्या सब के लिये भोजन और वस्त्र की समस्या है और एक ऐसी सभ्यता के प्रहारों के सामने भी इसे हल करना ही होगा, जिसने सम्पत्ति को अधिकार का केन्द्र

बना दिया है और असीम सम्पत्ति के अगल बगल में ही निस्सीम निर्धनता खड़ी कर दी है, पश्चिमी देशों की यही बे मेल बातें भारतवर्ष में भी स्थिर रूप से दोहराई जा रही है और हम लोगों के विश्वविद्यालयों के शिक्षित विद्वान, जो पश्चिमीय अर्थ शास्त्र के टुकड़ों पर ही पले हैं, समाजवाद की ऊँची आवाज उठा रहे हैं, किन्तु यह समझने के लिये अधिक बुद्धि लगाने की जरूरत नहीं कि इलाज करने के पहले मर्ज को देख लेना चाहिए, और इंगलैंड के लिये जो इलाज हो सकता हो वही हिन्दुस्तान के लिए एक बेकार चीज ही हो सकती है।

राजनीति रूपी शरीर की बीमारी के लिये आवश्यक है कि उसका ठीक निदान किया जाय और उचित इलाज किया जाय, भारतीय राष्ट्र स्वावलम्बन के उन्हीं सिद्धान्तों पर ही निर्मित हुआ है जिनके लिये योरोपीय देश असहाय रूप में आवाज उठा रहे, हैं, और एक बार जब स्वावलम्बन का सिद्धान्त स्थापित हो जाता है तो वह सम धरातल पर पूर्ण रूप में स्वयं ही बन जाता है, प्रत्येक युग वह स्वावलम्बन रक्षित रखता है जिस पर राष्ट्र लक्ष्य रखता है और भारत के प्राचीन ग्राम्य-संगठन में यही सिद्धान्त दिखाई पड़ता है।

जाली सिक्का नहीं।

इस प्रकार गांव राष्ट्र के अन्न भंडार, देश के धन के भंडार, राष्ट्रीय कौशल और सौन्दर्य भावना के स्रोत, लोगों के कलात्मक जीवन के कोष और सम्पूर्ण जाति की संचालक शक्ति के उत्पादक हैं। ऐसे गाँव का प्राचीन महत्व प्रदान कराने के लिये इसके समर्थकों से प्रशंसा वाक्य तथा इसके विरोधियों द्वारा आलोचना की कोई आवश्यकता नहीं, भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण करने के लिये उसको अंतिम रूप देने का कठिन कार्य हाथ में ले लिया

गया है, इस प्रकार पुनरुद्धारित भारतीय राष्ट्र एक भद्दी नकल नहीं होगा बल्कि एक विशुद्ध पुनर्रचना होगी, एक जाली सिक्का नहीं होगा बल्कि असली मुद्रा होगी, एक रद्दी पेवन्द का काम नहीं होगा बल्कि सुन्दर कला भवन होगा।

कार्यकर्ताओं की कांग्रेस

यह कभी नहीं होता कि मनुष्य को बालों की लट में ढूँढने पर कोई जंगल हाथ लग जाय, जो व्यक्ति छोटी २ घटनाओं को देखने में लगा रहता है, वह इतिहास व जीवन को एक पूर्ण रूप से विहंगम दृष्टि देख सकने में असमर्थ होता है। भूतकाल की सफलताओं व विफलताओं के महत्व को ठीक रूप से आंक सकने में समर्थ होने के लिये केवल विवेचनात्मक शक्ति की आवश्यकता नहीं होती बल्कि कुछ समय और स्थान से भी अन्तर की आवश्यकता होती है। जहाँ राजनीतिज्ञ अपने विचारों के अनुसार अपने दैनिक कार्य-क्रम को निर्धारित करता है वहां इतिहास-वेत्ता का यह काम होता है कि वह उस मुख्य विषय का अध्ययन करे जिसके चारों ओर उसकी आलोच्य घटना जुटी रहती हैं। यही कारण है कि आज का इतिहास कल की राजनीति थी, और आज की राजनीति आने वाले कल का इतिहास बनती है। यदि यह विचार ठीक है तो हम लोगों को इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये की पिछली आधी-शताब्दी में कांग्रेस के कार्य के सम्बन्ध में बहुत गलत आलोचनाएँ हुई हैं।

नेताओं कापुरस्कार

यह आम तौर पर कहा जाता है कि भारत के अँग्रेजी शिक्षित कुलीन वर्ग ही कांग्रेस को चलाते थे, और कांग्रेस ने उन्हीं के स्वार्थों की रक्षा की और लक्ष्य रक्खा तथा बहु-संख्यक मजदूर-पेशे लोगों के स्वार्थों और अधिकारों की अव-

हेलना की। हां यह बात ठीक है कि कांग्रेस एक दशक पहले अँग्रेजी शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों और विश्वविद्यालयों के उपाधि-धारियों द्वारा संचालित होती थी। किन्तु यह कहना कि वे अपने स्वार्थसाधन के लिए इसमें हाथ बटा रहे थे केवल वास्तविक सत्य को उपहासास्पद ही नहीं करना है बल्कि अपने पूर्व-वर्त्तियों के प्रति घोर अज्ञताः ही प्रकाशित करना है, फिर भी हमें यह मानना पड़ेगा कि कांग्रेस का मुकाबला करने में यह कूटिनीति वर्त्ती जाती रही थी कि जो लोग राजनीतिक आन्दोलन में लगे होते थे उनको फुसला कर सरकारी नौकरियों के लालच में फँसाते जाने की कोशिश की जाती रही। इस प्रकार एक के बाद एक इस कूट-नीतिज्ञता के शिकार होते गये। उन लोगों ने सरकार में ऊँचे पद प्राप्त किये और अपना ध्यान उस पद का अधिकार बढ़ाने में लगा दिया, जब कि उनके ग्रहण किये हुए ऊँचे पद में उनकी आशा के अनुसार अधिकार और प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ा किन्तु उनको इस प्रकार अपने स्वार्थों की पूर्ति करने वाला देश-द्रोही उसी प्रकार नहीं कह सकते जिस प्रकार आज कल के मन्त्रिमण्डलों पर अधिकार करने के समर्थकों को देश-द्रोही नहीं कहा जा सकता। यह हो सकता है कि इन दोनों दशाओं में सरकार की कूटनीति का मुकाबला करने के लिये कांग्रेस की प्रयुक्त नीति बिलकुल गलत रही हो किन्तु हमें कार्य और कारण तथा परिणाम और उद्देश्य के भेद में भूल नहीं करना चाहिए।

यद्यपि पूर्व काल के कांग्रेसवादियों को गांव के नेतृत्व का
स्पष्ट रूप से ध्यान नहीं था किन्तु उन
उन लोगों के श्रमिकों के लोगों ने अपने कार्य रूप में गाँव के हितों
लिए कार्य किया— की रक्षा को सब से आगे रक्खा और
जब वे गाँव के हितों की रक्षा की बात
रख रहे थे तो उनका अभिप्राय श्रमिकों के हितों की रक्षा करना

था, क्योंकि ग्राम्य-संगठन में बैठे बैठाये लोग नहीं होते और गांव की समस्त जनता को पसीना बहाये बिना धरती माता के गर्भ से धन की प्राप्ति नहीं हो सकती। कांग्रेस १६१५ तक जिन शिकायतों को सामने रखती रही वे गाँव के श्रमिकों के धन्धों और जीवन से ही सम्बन्ध रखती थीं।

इस्तमरारी बन्दोबस्त का सवाल उठाने का मतलब भू-कर के भारी बोध को —जो प्रत्येक तीस वर्ष या और बढ़ा दिया जाता था —कम करना था। हथियार का कानून रद्द कराने की मांग पेश करने का मतलब गांव के लोगों के हाथ में साधन देना था जिससे वे जंगली जानवरों के नित्य बढ़ते हुए आक्रमणों से अपने घरों. मवेशियों की रक्षा कर सकें। नमक-कर हटवाने का मतलब देहात के श्रमिकों और उनके मवेशियों की तन्दुरुस्ती ठीक रखना तथा समुद्र के किनारे के छोटे २ गांव के धन्धों की रक्षा करना था। जंगल कानून के विरोध का कारण यह था कि श्रमिकों को जलाने की लकड़ी, घर बनाने के लिये शहतीर और मवेशियों के लिये चारा मिलने का प्राचीन अधिकार प्राप्त हो सके अनिवार्य और निःशुल्क प्राइमरी शिक्षा का कार्य-क्रम बनाने का उद्देश्य देहात के श्रम-जीवी वर्ग की अज्ञानता और अन्धविश्वास मिटाना था। ग्राम-धन्धों के पुनर्जीवित करने का उद्देश्य गांव के श्रमिकों को भोजन और वस्त्र मुहय्या कराना था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कांग्रेस तीस वर्षों से अपने कार्य-क्रम में देश के बहु-संख्यक श्रमिक वर्ग के हितों को ही सब से आगे रखती आ रही थी, चतुर और धूर्त सरकार ने ही कांग्रेस वादियों की रुची और ध्यान ऐसी बातों की ओर फेरा जो उनके स्पष्ट स्वार्थों को अधिक पसन्द आने वाले और कार्यकर थे।

ताहम आलोचन यह कह सकते हैं कि शहराती क्षेत्र में मज-

आलोचकों को उत्तर-भूतकाल

दूरों की भलाई के लिये कुछ भी नहीं किया गया था. यह बात ठीक हो सकती है किन्तु यह शिकायत ठीक नहीं है, यह किस प्रकार हो सकता है, हम लोगों का शहराती मजदूरों तथा कस्बों और शहरों के मजदूरों की हालत सुधारने के सम्बन्ध में विचार पश्चिम की नकल हैं, लेकिन आलोचक यह भूल जाता है कि एक जगह से दूसरी जगह जाने में पदार्थ की तरह विचारों को भी समय लगता है और प्रायः उनको उत्पन्न करने वाले स्थान की अपेक्षा अन्यत्र अधिक समय लेते हैं। इंगलैंड से भारत की यात्रा में किसी समय तीन महीने लगते थे बाद में ३ हफ्ते लगने और अब हवाई मार्ग से २ ही दिन लगते हैं. और पश्चिम से पूर्व तक खबरें तथा मनुष्य ३ घन्टे में उड़ आ सकते हैं, किन्तु विचारों को एक देश से दूसरे देश में पहुँचने और वहां के लोगों पर अपना प्रभाव जमाने में कई दशक लग जाते हैं। १८७० में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में पहले पहल मजदूरों के प्रतिनिधि को स्थान मिल सका था। और बुअर युद्ध के बाद उसे हाउस आफ कामन्स में अपने चालीस प्रतिनिधियों को भेजने का अधिकार मिल मजदूरों की समस्या ने केवल दस ही पन्द्रह वर्ष पहले अंग्रेज जाति का ध्यान अपनी ओर खींचा है, जब ऐसी अवस्था उस देश में है जहां आबादी का तीन चौथाई भाग कस्बों में रहता है और उद्योग-धंधों की मजदूरी पर जीवन व्यतीत करता है तो हम किस प्रकार शिकायत कर सकते हैं कि भारत में मजदूरों के सम्बन्ध में उचित ध्यान नहीं दिया गया जहां आबादी का ४।५ भाग गांव में खेती व मजदूरी पर निर्वाह करता है।

आज के समाजवादी को यह शिकायत करने दिया जा सकता है कि उसके पूर्ववर्ती कांग्रेस नेताओं ने शहराती और उद्योग धंधों के मजदूरों के हितों पर ध्यान नहीं दिया किन्तु

उसके साथ ही कांग्रेसवादियों को यह शिकायत करने का मौका है कि समाजवादी का जन्म जिन्दगी में तीस या चालीस वर्ष पहले नहीं हुआ था। अथवा पश्चिम के विचार और आदर्श पूर्व में एक पूरी पीढ़ी पहले ही नहीं पहुंच सके थे। वस्तुतः यह सब ऊटपटांग की शिकायतें हैं, कांग्रेस ने अपने कार्य-क्रम को व्यापक बनाने में कभी भी टाल-मटोल नहीं की। सिर्फ एक पहले समय की घटना को परवर्ती समय के अनुभव से विवेचना करने में ही गलती है।

और अब

ताहम आलोचक यह पूछ सकते हैं कि वर्तमान समय में कांग्रेस ने भूखी मरती हुई प्रजा और मुसीबत उठाते मजदूरों की कुछ सहायता करने को और कुछ ध्यान दिया है। प्रत्येक कांग्रेसवादी अपनी छाती पर हाथ रख कर इसका उत्तर हां में दे सकता है, सन् १९१५ में गांधी जी के आगमन और भारतीय पराधीनता का मुकाबिला करने के लिए उनकी नई युद्ध-कला के प्रयोग से अब भारत के किसानों और मजदूरों के लिये नया युग आ उपस्थित हुआ है। चम्पारन में उन्होंने बगान वालों के अधीन किसानों की समस्या को उठाया और उसमें ऐसी सफलता प्राप्त की, जो इतनी प्रसिद्ध है कि उसका यहाँ पर वर्णन देने की आवश्यकता नहीं है, गाँधी जी ने चम्पारन-विजय के कुछ ही समय बाद अहमदाबाद की भारी हड़ताल में अहिंसात्मक आन्दोलन के नए सिद्धान्त का दुबारा प्रयोग किया, जिसमें मजदूरों की शिकायत दूर करवाने में उन्हें काफी सफलता मिली खैरा की प्रजा का पक्ष-समर्थन करने में उन्हें ऐसी ही सफलता मिली। और उस साल फसल न होने के कारण लगान की वसूल स्थगित कराने में सफलता मिली।

आलोचक कहेंगे कि यह सब पुरानी बातें हैं और गांधी जी के कांग्रेस में आने के पहले की घटनायें हैं। दोनों बातें सही हैं,

किन्तु भूत वर्त्तमान में मौजूद होता है और भविष्य का मार्ग खोलता है, भूत, वर्त्तमान, और भविष्य तीनों जीवन की अनन्त यात्रा के केवल विश्राम-स्थल हैं और एक दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते, सत्याग्रही गांधी कांग्रेसवादी गांधी का केवल अग्रदूत था और कांग्रेसवादी गांधी ने कांग्रेस को अपना ही विस्तृत संस्करण बनाया है।

ठोस तथ्य

हमें इन तात्विक विवेचनाओं में नहीं पड़ना चाहिये बल्कि ठोस बातों को देखना चाहिये, यह बात सही है कि कांग्रेस ने कोई हड़ताल संचालित नहीं की, किन्तु जब कभी कोई हड़ताल हुई, इसने बराबर उसमें अपनी शक्ति का उपयोग किया, निदान हड़ताली का सम्बन्ध केवल औद्योगिक श्रमिकों से होता है, और देश के औद्योगिक श्रमिकों की संख्या पुरुष और स्त्रियाँ मिला कर पन्द्रह लाख है। यह पन्द्रह लाख संख्या देहात के पन्द्रह करोड़ कृषि-जीवी श्रमिकों के मुकाबिले क्या है। जो सदा रात दिन खेतों और जंगलों में धूप और बरसात में मरते रहते हैं, आधा पेट खाकर अर्ध नंगे रह कर ही पसीना बहा कर मेहनत करते हुये: दिन काटते हैं, उनके सामने कोई दूसरा धन्धा नहीं है, उनके दुखों का कोई सुन-वैया नहीं है! ग्राम्य श्रमिकों की संख्या ऐसी है जिसकी ओर नगरों व श्रमिकों की अपेक्षा सौगुना ध्यान दिया जाना चाहिये। किसानों और मजदूरों की बात करना एक फैशन की बात हो गई है, लेकिन हम केवल उनकी बात ही करते हैं। जब हम कार्य-क्रम बनाते हैं तो किसानों को छोड़ देते हैं और मजदूरों की लेते हैं जिस शब्द का मतलब हम शहराती मजदूर लगाते हैं शहर के मजदूरों की ओर हमारा ध्यान इसलिए जाता है कि शहर और कस्बे गांव की अपेक्षा अधिक धृष्ट होते हैं और मिल के मजदूर गाँव वालों से अधिक उद्दण्ड होते हैं, चाहे जो बात

हो असलियत यह है कि कांग्रेस ने देहात के मजदूरों के स्वार्थ की रक्षा ही नहीं की है बल्कि कांग्रेस क्षेत्र में उनका नेतृत्व भी स्थापित कर दिया है, गांव का एक खद्दर पहना हुआ व्यक्ति कांग्रेस की राजनीति का नेतृत्व करता है, और गांव, जिला तथा प्रान्त के चुनाव में निर्वाचित होता है। गाँव के श्रमिकों के आर्थिक स्वार्थों पर उचित ध्यान दिया जाता है सम्पत्ति के स्रोत ने, जो एक सदी से अधिक समय तक गाँव से कस्बे, कस्बे से शहर और फिर वहाँ से समुद्र पार बहता रहा है अब अपनी धारा उलटी दिशा में प्रवाहित करना प्रारम्भ कर दिया है, जिससे आज धन बम्बई से मसलीपट्टम और वहाँ से आस पास के गाँवों को बहता है।

खद्दर ने यह इन्द्रजाल कर दिखाया है। इसने लाखों रुपयों को गाँव की ओर औरतों, गांव के जुलाहों, धोबियों, और रंगरेजों के हाथ में रख दिया है। क्या वे सभी श्रमिक नहीं हैं और खद्दर के पुनर्जीवन के साथ ग्राम-उद्योग भी जगे हैं जिसके द्वारा हम गांव के लुहार, बढ़ई, जुलाहे, कातने वाले छीपी, रंगरेज, मोची, कुम्हार, वैद्य और पुरोहितों के धन्धे पुनर्जीवित करने की आशा रखते हैं और ये सब ग्राम्य श्रमिक ही हैं। कांग्रेस इससे एक कदम आगे भी गई है, इसने शारीरिक श्रमिक की गौरव वृद्धि की है और उसकी निर्विवाद मांगों को स्वीकृत करने की बात उठाई है. पश्चिम में श्रम की भाषा अधिक लचीली है डाक्टर और वकील के मानसिक श्रम को उसके क्षेत्र से बाहर नहीं समझा गया है। हम लोगों ने राष्ट्र पर श्रम के अधिकार को दृढ़ किया है उसके अधिकारों की ओर राष्ट्र का ध्यान खींचा है और इस प्रकार केवल सिद्धान्त रूप में ही नहीं बल्कि वास्तविक रूप में उसका स्थान ऊँचा किया है, कांग्रेस कुलीन वर्गों के हाथ से उच्च मध्य वर्ग के लोगों के हाथ में आई और वहां से निम्न

मध्य वर्ग और समाज के निम्नतम वर्ग के लोगों तक पहुँच गई, हम न्यूनतम शब्द धन की दृष्टि से बनाए वर्ग के द्योतक शब्द के रूप में उपयोग कर रहे हैं। कांग्रेस को और भी नीचे जाना होगा और उसे सम्भवतया उन लोगों से ही संघर्ष करना पड़ सकता है जो कांग्रेस के सब के पहले समर्थक थे कांग्रेस धनी लोगों द्वारा दिये गये धन को अंगीकार करती है इसके माने नहीं है कि इसने अपने को धन के हाथ बेंच दिया है। हम धनी वर्ग को भारत की नागरिकता से वंचित नहीं कर सकते, जिस प्रकार कि हम "अछूत" हरिजन वा "वेश्यायों" को नागरिकता से मिटा नहीं सकते, वेश्याएं, हरिजन, और कुलीन वर्ग के लोगों को राष्ट्र के पुनर्निर्माण में सहायक होने का समान अधिकार है. देश के शासन-प्रबन्ध में स्थान पाने का समान अधिकार है, सवाल केवल यह है कि राष्ट्रीय कार्यों की व्यवस्था किन लोगों के लाभ के लिये की जाय, क्या करोड़ों की संख्या तक पहुंचने वाली विशाल जनता को राष्ट्र के संचालन का हक होना चाहिए वा इसका अधिकार केवल अत्यल्प-संख्यक धनिक वर्ग को होना चाहिए जो कि अपनी वैभव-वृद्धि में लिप्त रहते हैं। कांग्रेस का निर्णय स्पष्ट है, कांग्रेस नितान्ततः देश के श्रमिकों की संस्था है और मजदूरों तथा किसानों के अधिकारों की रक्षा करती है और कांग्रेस की उन्नति या अवनति इसी बात पर निर्भर है, जितना वह इस दृष्टिकोण के अनुकूल व प्रतिकूल चलने का प्रयत्न करेगी, कांग्रेस की दो सन्तान हैं। बड़ी ग्राम्य श्रमिक है. और छोटी नागरिक श्रमिक इसका संचित धन हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए एक सी विरासत है और भविष्य में भारतीय राष्ट्र में कोई सताया न जायगा।

अध्याय ७

राष्ट्रीयता और समाज की रचना

ग्राम-उद्योग-संघ

भारतीय राष्ट्रीयता की धारणा से यह बात प्रकट होती है कि राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त होने पर वा उसके पहले ही, प्रत्येक देश में आर्थिक स्वतंत्रता अर्थात् पूर्ण आत्म-निर्भरता होनी चाहिए। यह बात नहीं है कि आदान-प्रदान के व्यवहार, जो मनुष्यों के बीच प्रचलित होते हैं, संसार के राष्ट्रों के बीच होने अनुचित हैं बल्कि वे दामों के मुकाबले के पेचीदे और भारी मसले पर निर्भर करते हैं जो खुद जमीन और ऋतु की प्राकृतिक अवस्था पर निर्भर नहीं होते, बल्कि भारी तादाद में पैदाइश की नकली हालत पर निभर होते हैं जिनके कारण बाहरी शक्तियां देश के साधारण जीवन में घुस आती हैं और स्वाभाविक जीवन की शान्त गति को बाधा पहुंचाती हैं।

आधुनिक सभ्यता की बुराइयाँ

प्रत्येक सभ्य आदमी सूती, रेशमी वा ऊनी कपड़े पहनता है। यदि एक देश दूसरे देश के कपड़े मुहैया करता है तो दूसरे देश की हाथ की कारीगरियों का ही लोप नहीं होता बल्कि वह उस देश का गुलाम बन जाता है। किसी देश के लोगों की कला और शिल्प से ही उसकी सभ्यता जानी जाती है, जो अधिकतर गांवों में ही रहते हैं। यदि हमें स्वराज्य मिल जाय और हम अपने हाथ की कारीगरी भूल जायं तो हमें दुनियां तो हाथ लगती है किन्तु आत्मा खो जाती है।

आत्मा-कला,• और सौन्दर्य संयोगवश केवल भाववाचक

शब्द हैं, साधारण आदमी को वे कोई ठोस चीज नहीं जान पड़ते। वास्तव में उनको आज की सभ्यता के मिथ्या तर्क में फंसे लोगों की अपेक्षा निपढ़ व्यक्ति अधिक समझता है। पश्चिम ने कलों की मार और पूर्वी सादगी, सौंदर्य, पवित्रता तथा आध्यात्मिकता के प्राचीन आदर्शों के ऊपर होड़ से 'शिक्षा' और 'संस्कृति' शब्दों को संघर्ष, पैसे और शक्ति वाले सबसे मोटे आदमी की ही दूसरों के मुकाबिले विजय, शक्ति तथा प्रतिद्वन्दिता आदि का पर्यायवाची बना दिया है। देश ने अपनी प्राचीन प्रतिमा को फेंक दिया है और विचित्र देवताओं को पूजना प्रारम्भ किया है, हमको नित्य विदेशी चीजें इस्तेमाल करना, और पश्चिमी विचारों में डूबना सिखाया जा रहा है।

शिक्षित भारतीय का घर

इन अवस्थाओं में राष्ट्रीयता परिहास की बात हो गई है। हमें इसके प्रमाण की आवश्यकता नहीं। हम शिक्षित भारतीयों के घर में जाकर देखें तो उसके घर बार, पहनने ओढ़ने, तथा खाने पीने तक की चीज सभी विलायत की बनी दिखाई पड़ेगी। घर के सजावट की सब चीजें, बच्चों के खिलौने, आदि सब विलायती होंगी। घर का सब ढांचा, रहन-सहन विलायती होगी।

उन्हे सबेरे से शाम तक विलायती चीजों को इस्तेमाल करते हुये हम नित्य देख सकते हैं। कङ्घे, ब्रुश, साबुन, वेसलिन, बटन और चेहरे में लगाने की नफासत की सभी चीजें, मोजे, मौजेबन्द, क्लिप, बटन, पेटी, कालर, टाई, बूट, हैट, प्याले, प्यालियां, चम्मच, कांटे, चीनी मिट्टी के बर्तन, चाकू, कैञ्ची, सब विलायती होंगी। विलायत की बनी खाने पीने की चीजें उदाहरणार्थ फ्रांस का कहवा, आस्ट्रेलिया का दूध, जावा की चीनी, चेशायर का नमक, इङ्गलैन्ड की चटनी मुरब्बा, खाना बनाने का

चूल्हा प्राइमस स्टोव तक विलायती होगा। भोजन की सामग्री और उसके तैयार करने के सब सामान सिर्फ पानी छोड़कर विलायती ही होंगे। पानी की जगह भी विलायती तरह तरह की शराबें शिक्षित, पश्चिमी दिमाग वाले व्यक्तियों के गले उतरती हैं। डीज़ लालटेन और पेट्रोमेक्स बत्ती, कलई के बर्तन, धातु चमकाने के ब्रासो पालिश विलायती ही दिखाई पड़ेंगे। आमोद-प्रमोद की चीजों में हाकी स्टिक, टेनिस रैकेट, क्रिकेट और बैडमिन्टन के बैट, पिंगपांग गेंदे, तथा ताश विलायती ही होंगे। कागज, कलम, दावात, निब, चश्मा, फीते तौलने की मशीन, आदि विलायती ही होंगी। मेज, कुर्सी, शीशे के फ्रेम आदि भी विलायती लकड़ी और तख्तों के बने होंगे। फर्श के बनाने वाले संगमरमर तथा चीनी मिट्टी के टुकड़े और खपड़ैल विलायती, ताले, सिटकिनी, कबजे, पर्दे, छड़ी, छाता, चित्र, हारमोनियम, ग्रामोफोन, रेकार्ड, सारंगी, पियानो, आदि भी विदेशी ही होंगे। कपड़े लत्ते, दवायें, बच्चों के खाने की चीजें, उस्तरे, ब्लेडस, मक्खन, संरक्षित फल आदि भी विदेशी ही होंगे। इतना ही नहीं हम लोगों के गरीब मजदूरी पेशे वाले लोगों के घरों में भी विलायती चीजों की भरमार मिलेगी। आरी, बसूला, हथौड़ा, निहाई, सुई, तागे, सीने की मशीन, चाकू, कैंची, आदि सब विलायती चीजें होंगी। धनी घरों की मोटर, लारियों, हवाई जहाजों आदि की तो बात ही दूर है।

कलों की मार

हम लोगों की लड़ाई असल में बड़े पैमाने के उत्पादन से है जो धनी को तो और धनी बनाता है और गरीब को और निर्धन। हमारा लक्ष्य धनी के पास और धन पहुंचाने और गरीब के पास की बची रक़म भी छीनते जाने का नहीं है। किन्तु कलों का यही नतीजा होता है। एक उदाहरण लीजिये। एक बोरा धान हाथ से

कूटे जाने पर उसे कूटने वाली तीन औरतों को आदमी एक सेर चावल और एक आना मजदूरी मिलती है। उनका काम मुश्किल होता है किन्तु मन उचाटने वाला और बहुत देर का नहीं होता। वे तीन बजे तड़के आकर दिन के तीन बजे काम खतम कर छुट्टी पा जाती हैं। छुट्टी पाकर वे गाती बजाती गप शप करती खुशी खुशी घर जाती हैं। इस तरह हर एक औरत अपनी मिहनत की कमाई से खुद अपना अपने पति का तथा दो बच्चों कुल चार आदमियों का निर्वाह करती हैं। इस तरह एक बोरा धान ३ × ४ वा बारह प्राणियों के निर्वाह का साधन है।

अब कल की बात लीजिये। धान कूटने की एक मिल रोज़ ६०० बोरा धान कूटती, फटकती है। उसमें कुल ४० मज़दूर और एक आदमी की पूंजी लगी होती है। ४० मजदूरों का अर्थ ४०×४ अर्थात् १६० आदमियों से हुआ जिनका निर्वाह उनकी मजदूरी से होता है। यदि ६०० बोरे हाथ से कूटे गए होते तो केवल १६० आदमियों की जगह ६००×१२ अर्थात् ७२०० आदमियों का निर्वाह हुआ होता किन्तु मिल के कारण करीब करीब सात हजार आदमियों के निर्वाह का साधन मारा गया और उसकी जगह मिल के अकेले मालिक को मुनाफा मिला और शेष रुपया पेट्रोल, तेल वा कोयला, टैक्स, रिश्वत, कलों में लगी पूञ्जी के व्याज, पुराने पुर्जों की जगह नए पुर्जे लगाने में खर्च और कल को निरन्तर घिसाई में पूञ्जी की कमी होने में ही खर्च हुआ। इस मिल के मालिक को पूंजी की जगह और रुपया मिला और विदेश के उस व्यापारी को अधिक मुनाफा मिला जिसने कल बनाई। इस तरह कपड़ों की मिलों, हजारों अन्य चीजों को तैयार करने वाली कलों की बात समझी जा सकती है। सवाल यह उठता है कि कि क्या कलों का बहिष्कार करना आवश्यक है और क्या ऐसा कर सकना संभव है?

विचित्र सत्य

जब गांधी जी ने ग्राम-उद्योगों और हाथ की कारीगरियों की प्रथा प्रचलित करना प्रारम्भ किया तो लोगों ने बड़े विस्मय से पूछना शुरू किया कि क्या कहीं बैलगाड़ी मोटर गाड़ी की दौड़ में ठहर सकेगी। हम लोग कलों के युग में रहते हैं, जिसमें उद्योग धंधों की भारी दौड़, विदेशों में निर्यात के लिए चीजों का उत्पादन, मंडियों की खोज, राजनैतिक प्रभाव, साम्राज्यवाद तथा सैनिकवाद की धूम है। एक के बाद एक का नंबर आता है। पाश्चात्य देशों ने मंडियों की खोज में उपनिवेश, अधीनस्थ राज्यों, अपने स्वार्थों और प्रभाव के क्षेत्रों और रक्षित राज्यों की स्थापना की है। किन्तु इन सब का कुछ भी स्थायी फल नहीं निकला है। ये सब उसे विनाश की ओर ही ले जा रहे हैं।

युद्ध जो पूर्व और पश्चिम में समान रूप से ही भाग्य-निर्णय का अंतिम अस्त्र माना जाता है, आर्थिक रूप से निष्फल सिद्ध हुए हैं। इस शताब्दी के पहले दशक में ही श्रीयुत नार्मन एंजेल ने भविष्यवाणी की थी युद्ध में विजित की अपेक्षा विजयी देश की अवस्था ही अधिक खराब होगी। यह कथन विरोधाभास जान पड़ता है किन्तु फिर भी इसमें एक चिरस्थायी सत्य है। और मानों इस कथन की सत्यता प्रमाणित करने के लिए ही पिछला महायुद्ध हुआ था।

पिछले महायुद्ध में फ्रांस और इंगलैंड को भारी विजय प्राप्त हुई थी और उन्होंने जर्मनी से क्षतिपूर्ति पाई थी किन्तु ऐसा करने से उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ। इस बात का अनुभव जर्मनी को १८७१ में हो चुका था जब उसने विजयी होकर फ्रांस से क्षतिपूर्ति ली थी। क्षतिपूर्ति के लिए जो चीजें जर्मनी द्वारा फ्रांस को मिल रही थीं वे या तो फ्रांस में खुद तैयार होती थीं वा फ्रांस में इंगलैंड

से तैयार होकर आती थीं। नतीजा यह हुआ कि फ्रांस कोयला और कलें तो जर्मनी से मुफ्त मिलने लगीं, अतएव बाजार में उथल पुथल मच गई। फ्रांस और इंगलैंड के कारखाने तो बंद रहने लगे, बेकारी बहुत अधिक बढ़ने लगी और जर्मनी के कारखाने रात दिन खुले रहने लगे, वहां बेकारी का कोई सवाल नहीं था, लंदन में जहां बेकारों की संख्या युद्ध समाप्त होने पर १० लाख थी, वहां बढ़ कर २७ लाख तक पहुंच गई और बेकारों को सहायतार्थ दी जाने वाली रोजाना ८१ लाख रुपए की रक़म सरकार की जेब से निकलने लगी अर्थात तीन अरब रुपए वार्षिक केवल वृत्ति रूप में दिए जाने लगे।

आधुनिक पाश्चात्य अर्थनीति

युद्ध-संगठन वा सैनिकवाद के ये फल है। शान्ति के समय का संगठन औद्योगिकवाद हैं; सैनिकवाद जिसका अग्रदूत है किन्तु इंगलैंड के लिए औद्योगिकवाद भी सैनिकवाद की अपेक्षा अधिक लाभकर नहीं सिद्ध हुआ। हम यहां पर इंगलैंड की आर्थिक अवस्था पर कलों के कुप्रभाव के परिणाम का अध्ययन करेंगे। सन् १७८३ ई० में भाप के इंजिन के आविष्कार होने और यांत्रिक बल का उद्योग-धंधे में उपयोग होने के बाद से पश्चिमी देशों ने उतनी तेजी के उद्योग-धंधों की गति तेज करने की कोशिश की है जितनी उन्हें मंडियां मिलती गई हैं, और विदेशों में निर्यात के लिए माल तैयार कर वे पूर्व में मंडी की तलाश में निकले हैं। अब हम यह देख सकते हैं कि पूर्व और पश्चिम की जन संख्या में बराबर का अनुपात है क्योंकि अकेले भारतवर्ष और चीन में शेष संसार के बराबर ७५ करोड़ की आबादी है। पश्चिमी देश माल तैयार कर एक दूसरे की होड़ में पूर्व में तैयार माल खपाते रहे हैं और चीन जापान अपने शिल्प धंधों की बर्बादी बर्दाश्त कर पश्चिम की कलों द्वारा तैयार चीजें खरीदते रहे हैं

जो इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, कनाडा, जेकोस्लोवाकिया, संयुक्त देश और अन्य देशों में तैयार होती रही हैं।

स्वावलंबी अर्थनीति

पूर्वी देशों में ज्यों ही राष्ट्रीय चेतना जागृत हुई त्यों ही उन्होंने इन विलायती चीजों के आयात के खतरे को महसूस करना प्रारम्भ किया, और भारतवर्ष के पिछले अहिंसात्मक आन्दोलन ने आयात का खतरा ही नहीं बतलाया बल्कि आयात रोकने का लाभ भी दिखा दिया। जब निरस्त्र भारतीयों ने एक बार संसार के प्रबलतम साम्राज्य को झुका दिया और हिंसा के विपक्ष अहिंसा, असत्य के विपक्ष सत्य और अन्याय के विपक्ष न्याय की विजय दिखा दी तो इस पाठ को भारत के पड़ोसी राष्ट्र ईरान, अफगानिस्तान, मेसोपोटामिया, अरब और मिस्र ने भी सीखा। उन्होंने भी विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार प्रारम्भ कर दिया। नतीजा क्या होगा ?

यदि बहिष्कार सफल हुआ तो पाश्चात्य देशों को अपना तैयार माल बेचने के लिए पूर्व में मंडी ही मिलेगी और वे अपने देशों में ही एक दूसरे से होड़ कर सस्ती बेचने में समर्थ नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ डीज लालटेन लगभग २ या ३ करोड़ प्रति वर्ष भारत में आती है। ये सब अमेरिका के संयुक्त देश वा जर्मनी में तैयार होती हैं। यदि हम इनका मँगाना बन्द कर दें तो वे इन्हें बनाना बंद कर देंगे क्योंकि योरप का प्रायः प्रत्येक देश ऐसी चीजें अपने लिए तैयार करता है। इसलिए उन्हें इनका उत्पादन इतनी सीमित करना पड़ेगा जितने की उनके देश में ही खपत हो विदेशों के निर्यात के लिए उत्पादन रोकना पड़ेगा। जब उनके पास निर्यात करने के लिए कोई चीज नहीं रहेगी जिससे वे अपने देश में आयात की कीमत चुका सकें तो उन्हें आत्मनिर्भरता का आश्रय लेना पड़ेगा।

वास्तव में यही स्वाभाविक परिणाम होगा क्योंकि जहाँ विदेशी राष्ट्र भारत में ७२ करोड़ रुपये का कपड़ा निर्यात कर रहे हैं वहाँ भारत अपने इस आयात की कीमत रुई और चावल देकर अदा करता है। यदि भारत ने कपड़े का आयात बंद कर दिया तो विदेशी मुल्क भारतीय रुई को लिवरपुल नहीं मँगायेंगे चावल न खरीद सकेंगे। दूसरे शब्दों में चूंकि भारत को लंकाशायर के कपड़े की आवश्यकता नहीं, इसलिए इंगलैंड भारत का चावल पा नहीं सकता। भारतीय चावल भारतीय खपत के लिए ही काफी नहीं है। अंग्रेज अधिकारियों के कथनानुसार भी सात करोड़ भारतीयों को आधा पेट भोजन भी नहीं मिलता।

इसलिए यदि भारतीय चावल का विलायत में निर्यात होता है तो उसका कारण यह नहीं कि भारत में चावल अत्यधिक है जैसा कि लंदन में बैठे हुए भारत के हाई कमिश्नर विज्ञापित करते हैं; बल्कि इस कारण होता है कि भारतीय कारीगर, कातने वाले, जुलाहे, कपास ओटने वाले, छीपी, रंगरेज, बढ़ई, मोची, कुम्हार, जहाज बनाने वाले, तथा मछली के व्यवसायी—आदि इस युग में अपने शिल्प से रोजी कमा सकने से वंचित कर दिये गये हैं, इसलिये जब स्वराज्य भारत के प्रत्येक निवासी को भोजन और वस्त्र प्राप्त कराता है तो भारतीय कारीगर पुनर्जीवित हो उठेंगे और उन्हें भारतीय चावल की आवश्यकता होगी, और उसे खरीद सकने में समर्थ होंगे। तब भारतीय चावल विदेशों में निर्यात होने के लिये नहीं बच रहेगा, और पश्चिम को अपना चावल स्वयं पैदा करना पड़ेगा। लखनऊ प्रति मास ७०००० अंडे विलायत रवाना कर सकने में समर्थ न होगा जैसा कि वह आज कर रहा है। इसी तरह चाय, कहवा, तेल के बीज भी निर्यात के लिये बचेंगे, और न पश्चिमी देश इसके लिये समर्थ होंगे कि वे अपना तैयार माल निर्यात कर पूर्व के आयात के माल की कीमत चुकता कर सकें।

इसी तरह पश्चिम को अपने कारखानों का माल अपने देश में खपत करने भर को ही तैयार करने के लिये विवश होना पड़ेगा। तथा साथ ही अपने लिए खाद्य सामग्री भी स्वयं पैदा करने में समर्थ होने के लिए प्रयत्न करना पड़ेगा। एक शब्द में पाश्चात्य देशों को उसी तरह आत्मनिर्भर होने के लिए विवश होना पड़ेगा जिस तरह भारतवर्ष सदा (ब्रिटिश काल छोड़ कर) आत्मनिर्भर रहा है!

अभी कुछ दिन हुए लंकाशायर मिल संघ के मंत्री ने लोगों को समझाना प्रारम्भ किया था कि लंकाशायर को केवल दूसरे धंधों में पड़ने का ही प्रयत्न नहीं करना चाहिये बल्कि इंगलैंड को अपनी खाद्य सामग्री अधिक से अधिक पैदा करनी चाहिये। जब इंगलैंड इस प्रकार स्वावलम्बी राष्ट्र बन जायगा तो वह अपने जङ्गलों और वाटिकाओं को काट और उजाड़ चुका रहेगा जैसा कि उसने पिछले महायुद्ध के समय किया था और उसे भारत से आयात के स्थान पर अनाज स्वयं ही पैदा करना होगा। दूध तथा दूध से तैयार अन्य चीजें दूसरे देशों से मँगाने की अपेक्षा अपने देश में ही उत्पन्न करना होगा। अन्य पाश्चात्य देशों की भी ऐसी ही अवस्था होगी। ऐसी स्थिति हो जाने पर कलों की उतावली गति से चलाने की आवश्यकता तो रह ही नहीं जायगी, किन्तु कलात्मक उद्योग धंधों के क्षेत्र में कदाचित कलों की बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं रह जायगी। चरखा और करघा इंगलैंड में भी उसी प्रकार घर कर लेंगे जैसा नार्वे में उनका प्रचलन हो रहा है। और जहाँ शेफील्ड में चाकू कैंची, स्विटजरलैंड में घड़ियां, वेलजियम में निब, और फ्रांस में गोटे के व्यवसाय केन्द्रीभूत होकर एक-देशिक व्यवासय हो गए हैं वहां उनके स्थान पर पाश्चात्य देशों में ग्राम धंधों को अपना क्षेत्र विस्तृत करना पड़ सकता है। इस प्रकार के भीषण परिवर्तन का मतलब वास्तव में उन्नीसवीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति के विरुद्ध दूसरी क्रान्ति करना होगा और तब हम पाश्चत्या देशों में आज की

अवकाश की भावना और समय के विपक्ष उन्मत्त दौड़ को समाप्त देखेंगे।

ठीक आदर्श

इस तरह हम पश्चिम में एक ऐसे युग के आगमन की आशा कर सकते हैं जब एक बार फिर राष्ट्रीय जीवन पर से बुद्धि का प्रभुत्व हट जायगा और उसकी जगह मनोभाव उचित स्थान ग्रहण करेगा जब कलों का अत्याचार दबा दिया गया रहेगा और शिल्पी का कौशल पुनर्जीवित किया जा चुका रहेगा, जब उत्पादन केवल अपने देश में खपत के लिए होगा, पर जीवी साम्राज्यवाद का स्थान स्वावलंबी, आत्म-निर्भर राष्ट्रीयता ले चुकी रहेगी, जब प्रतिद्वन्दिता की भद्दी भावना मिट गई रहेगी और सहयोग की सुन्दर भावना के लिए स्थान बना चुकी रहेगी, जब बाजार की नकली तड़कीली-भड़कीली चीजों की चाह की जगह टिकाऊ वस्तुओं का प्रेम आ चुका रहेगा जब सभ्यता एक बार फिर टुकड़ों का स्थान पर 'पूर्ण' वस्तुओं पर आधारित होगी, जब राष्ट्र के मेधावी रचनात्मक कार्यों में योग देने का प्रयत्न करते रहेंगे और संहारक साधनों की खोज में नहीं लगे रहेंगे, जब विचार और जीवन आंगिक न रह कर सर्वांगीण हो गए रहेंगे, जब धर्म दिखावट न रह गया रहेगा बल्कि जीवन की स्थायी प्रेरणा बन गया रहेगा और अंततः जब राष्ट्र विजय के आकांक्षी न रह कर परमार्थनिष्ठ आत्मा बन गए रहेंगे।

गांव राष्ट्रीयता की स्वावलंबी, आत्मनिर्भर इकाई हैं।

यह सब कुछ अच्छा है और ठीक है। योरप को एक दिन अपना आदर्श बदलना पड़ेगा। डेढ़ सौ वर्षों की औद्योगिक क्रान्ति को कदाचित अपने ही मार्ग पर पीछे लौटना होगा। हमको यह भी मानना पड़ेगा कि जर्मनी के युद्ध की तैयारी का कारण उसके

पास विदेशों में बिक्री के लिए मंडी का न रह जाना है। और कोई भी औद्योगिक देश उपनिवेश के बिना हाथ पैर रहित लुंज आदमी की तरह है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या कभी भारत इस रूप में रहा है कि वह स्वावलंबी और आत्म निर्भर रहा हो। हिन्दू समाज की रचना का आधार क्या है? इसी उत्तर पर उस योजना का ठीक होना निर्भर है जिसे कांग्रेस ने ग्राम्य उद्योगों के पुनरुद्धार के लिए तैयार किया है।

हिन्दू समाज

यह प्रायः कहा जाता है कि हिन्दुओं में धार्मिक और सामाजिक रीतियाँ और संस्थाएँ एक दूसरे में मिली होती हैं। यह बात ठीक है पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंगे होने के कारण हम लोग व्यवस्थाओं और संस्थाओं के ऐसे बेमेल संयोग का विरोध करते हैं। किन्तु जब हम पश्चिमी पर्दा हटा दें और अपनी प्राचीन संस्कृति का अध्ययन करें तो हमें इसके अंतर्गत विचार-शीलता समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। यथार्थ बात यह है कि जिसे हिन्दू धर्म कहा जाता है वह मतों और सिद्धान्तों की उसी प्रकार एक गठरी नहीं है जिस प्रकार हिन्दू समाज रीतियों और सूत्रों की ढेरी नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत धर्म और समाज भारतीय जीवन के जाल के ताने बाने की रचना करते हैं और वे स्थूल रूप से हिन्दू संस्कृति द्वारा प्रकट किए जा सकते हैं। यह संस्कृति ही हिन्दू सभ्यता की यथार्थ अनुक्रमणिका है यह हिन्दू प्रतिभा का विकसित रूप है। यह निस्संदेह उस उच्च स्फुरण से रक्षित होता है जो धर्म द्वारा सदा प्राप्त होता है। यह हिन्दू समाज का मूल आधार है जिसने ऊपरी तौर से देखने पर हिन्दू शब्द से बोध होने वाली अनेक जातियों का प्रभेद कर दिया है किन्तु इसी ने जीवन के बहुसंख्यक विरोधों के मध्य एक यथार्थ समन्वय भी विकसित किया है। ये विरोध केवल वर्तमान

समय की द्रुतगामी कल्पनाएं नहीं हैं, और न वे ठोस विवाद हैं जो जीवन में समय समय पर उत्पन्न होते हैं, बल्कि हम यदि कह सकें तो वे चिरस्थायी भिन्नताओं में से कुछ हैं जो स्मृतिकारों, दार्शनिकों और महात्माओं को कठिक समस्या में डाल देती रही हैं। धन का विद्या से क्या संबंध है, मनुष्य की आध्यात्मिक प्यास का भौतिक लालसा से किस प्रकार सामंजस्य करना चाहिए? विश्वामित्र, बाल्मीकि और वशिष्ठ में कौन सब से बड़ा है? ये इन समस्याओं में से कुछ हैं जिनका उत्तर प्राचीन हिन्दू समाज के संस्थापकों और प्राचीन हिन्दू संस्कृति के पूर्व पुरुषों ने दिया था।

वर्णाश्रम धर्म

वर्णाश्रम धर्म हिन्दू समाज का मुख्य लक्षण है। भारत के चार वर्णों का संगठन उनमें होड़ की भावना मिटाने के लिए हुआ है, क्योंकि प्रत्येक वर्ण को अपने ऊपर अभिमान करने का उपदेश दिया गया है और वह अपने में ही पूर्ण प्रजातन्त्र रूप है। ऐसा कोई नहीं कहता कि मनुष्य के चार आश्रमों में कभी विवाद खड़ा होता हो। वे धर्म के पालन के उसी प्रकार साधन होते हैं जिस प्रकार वर्ण। यह है कि चारों आश्रमों को एक व्यक्ति एक ही जीवन में पार कर लेता है किन्तु वर्ण को एक ही जीवन में क्रमानुगत अवस्थाओं में पार नहीं करना पड़ता बल्कि जीवन के एक चक्र में क्रमानुगत जन्मों में पार करना होता है। वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था में प्रत्येक वर्ण और आश्रम के कर्तव्य और कार्य बिल्कुल अलग अलग बटे हैं, अर्थात् उनका पृथक-पृथक अपना धर्म है।

समय बदला

अब हमें यह देखना है कि आधुनिक काल में इनकी किस प्रकार अधोगति हुई है, और हम उनकी स्थापना नए सिर से कर सकते हैं वा नहीं, और यदि कर सकते हैं तो जीवन की वर्त-

मान अवस्थाओं का समाज के पुराने संगठन के साथ किस प्रकार सामंजस्य किया जाय। हमने यह देख लिया है कि ब्राह्मण निधनता और ज्ञान के प्रतीक रहे हैं और धन कभी भी ज्ञान का सहगामी वा पुरस्कार नहीं माना जाता था। संस्कृति की निस्संदेह मान और प्रतिष्ठा भी होती रही है किन्तु सेवा के आदर्श की अनुवर्तिनी बना दी गई रही है और संस्कृति के पुजारियों को राज्य और समाज से आश्रय मिलता था। राज उन्हें दान देकर निर्वाह करता और जनता वृत्ति देती थी। ब्राह्मण राज्य और समाज दोनों की समान रूप से सेवा करता था और एक रूप से जीविका का अधिकारी था।

सम्पत्ति दूसरे वर्णों को दी गई थी, जायदाद और शारीरिक बल दूसरे ही वर्ण कौर प्रत्येक को अपना कर्तव्य धर्म मानने, उसी के लिये जीवित रहने, और उसी के लिये मारने का उपदेश दिया गया था। किन्तु समय बदल गया। राजा रानी का संरक्षण नहीं रह गया। हिन्दू संस्कृति का समाज पर प्रभाव नहीं रह गया और विदेशी शासकों ने एक ऐसे दल से, जिसके लोग विद्वान और गरीब थे, अपना मतलब साधने की आवश्यकता अनुभव की। इन लोगों द्वारा अपने कानूनों को जनता के सामने रखने और जनता की आकांक्षाएं स्वयं समझ सकने के लिए इनसे दुभाषिए का काम लिया। ब्राह्मणों ने बड़ी उत्कंठा से अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर इस रूप में विदेशी शासकों के द्वारा एक बार विशेष प्रतिष्ठा और धन प्राप्त किया किन्तु थोड़े ही समय में उन्हें मालूम पड़ा कि वे मझधार में छोड़ दिये गये हैं जहाँ वे एक तैरते डंडे के ऊपर पड़े से मालूम पड़े जहां न तो उसके पास डाँड़ था, न पतवार, न पाल। शासकों को दूसरी जातियों और वर्णों को आसमान पर चढ़ाने में सुभीता मालूम पड़ा। वे नई शिक्षा के कारण शक्ति, मान, मर्यादा, और धन की खोज में अपना पुश्तैनी

धन्धा छोड़ बैठीं और कुछ समय के लिये धन-सम्पन्न हुईं। इस प्रकार गांव कस्बों की ओर बढ़े धन्धों का नाश हुआ लोगों में विदेशी शिक्षा, विदेशी उपाधियों, विदेशी नौकरियों, विदेशी प्रशंसाओं, और पदवियों का नाश फैला जब तक कि प्रत्येक जाति और वर्ण ने अपने प्राचीन देश और संस्कृति को बेच डालना उचित न समझा।

छोटा लोक

हम एक क्षण के लिए गांवों में चलें और समाज में प्रचलित इस नई बिगाड़ के कारण उत्पन्न की वर्तमान और भूत अवस्था पर विचार करें। कुछ समय पहले तक गाँव एक संघबद्ध इकाई थी, और एक तरह से वह अब भी ऐसा ही है। जिस तरह एक शताब्दी पहले था, उतना अब सामान्य उत्पादन और स्वार्थों के सम अधिकार चाहे न हों, किन्तु गाँव अब भी राष्ट्रीयता का स्वावलम्बी और आत्म-निर्भर इकाई बने हैं और यदि भारतीय राष्ट्र को अपना व्यक्तित्व और अखंडनीय रखनी है तो उनको सुरक्षित और स्थिर रखना चाहिये। हम भारतीय गांव को एक छोटा लोक कह सकते हैं जो प्रायः अपनी आवश्यकता की सभी चीजें अपने अन्दर ही पा सकते हैं।

गाँव में सब ऐसे पेशे के आदमी रहते थे। इसलिये जीवन की अत्यधिक आवश्यकता की सब चीजें वहां मिल जाती थीं। दूसरे गाँवों के साथ केवल सामाजिक आनन्द के लिये ही सम्पर्क होता था, किन्तु कस्बों के सम्पर्क से गांव का पैसा वकील, डाक्टर, और आढ़तियों द्वारा खिंच आता है और वहां से शहर, शहर से समुद्र से पार चला जाता है। प्रातःकाल समय में हम लोग संसार को अपनी सर्वोत्तम उपज देते थे, और अपने भोजन तथा वस्त्र के लिए कभी बाहरी दुनियां पर निर्भर नहीं रहते थे, किन्तु अफसोस, सब चीजों का क्रम ही पलट गया हम भिखमंगे

घसकट्टे ही रह गये हैं, भारतवर्ष जहां एक सब से प्राचीन सभ्य देश था, जहाँ देश भर में दूध दही की नदी बहती थी वहां यह विदेश की सराय हो गया है।

भारत की भारी जन संख्या का बल

क्या अब हम अपने समाज का काया पलट कर सकते हैं? इसमें बहुत सी कठिनाइयां हैं, उनमें से सब से मुख्य देश के लोगों में उत्पन्न असहाय अनुभव करने की भावना है। किन्तु इतना ही नहीं, लोग यही नहीं अनुभव करते कि सब शक्ति हमारे हाथ से निकल गई हैं। बल्कि उन्होंने अपने में दासता और हीनता के गुण ग्रहण कर लिए हैं।

हिन्दू समाज का अपने सुधार की ओर ध्यान देना उचित ही है। ब्राह्मण निराशा पूर्वक पूछता है कि सरकार नौकरियों से वंचित रहने पर उसके भविष्य की क्या दशा होगी. मानो सदा विदेशी शासकों की अराष्ट्रीय सेवा करते ही उसकी जिन्दगी बीतती आई है। हरिजन सोंचता है कि अब तक सवर्ण हिन्दू एक सदी से उससे आगे बढ़े रहे हैं। उनको वह किस प्रकार पीछे कर सक्ता है। हमारा यह कहना है कि पुराने समय के हरिजन और ब्राह्मण जो इस समय का हरिजन बन गया है, दोनों को और बीच की अन्य सभी जातियों उपजातियों को एक बार फिर उस अवनति की ओर ध्यान देना चाहिए जिसमें वे सब पिछली सदी मे गिर गए हैं, उन्हें सोचना चाहिए कि वे, जिस हद तक मुमकिन हो, हिन्दू समाज की सामाजिक आर्थिक रचना का पुनरुद्धार कर सकते हैं वा नहीं।

आज की वर्ण-व्यवस्था प्राचीन व्यवस्था का बिगड़ा रूप है। यह कोई नहीं चाहता कि विकृत व्यवस्था, जाली सिक्के का ही प्रचलन किया जाय। बल्कि इस व्यवस्था की आत्मा जागृत करना

चाहिये। ब्राह्मण, जिसका अभिप्राय आधुनिक समय के सभी विद्वानों से है, अपने बंधुओं का नेतृत्व करें, सम्पत्ति को विद्या से पृथक कर दिया जाय, शिल्प जीवन का पुनरुद्धार किया जाय, गांव राष्ट्रीयता की स्वावलम्बी, आत्म-निर्भर इकाई बन जाय। इतना कर चुकने पर हम भारत का पुनरुद्धार कर चुके रहेंगे।

लोग यह पूछेंगे कि बैलगाड़ी मोटर गाड़ी की दौड़ में कैसे ठहरेगी। यह ठीक है। इस तुलना का मतलब यह है कि मामूली ग्राम-उद्योगों की ओर लौट चलना और संसार में गांवों की बहार देख सकना भारत के लिये सम्भव नहीं है जहां पश्चिम-देशों में औद्योगिक-वाद की बाढ़ इतने विकराल रूप में फैल चुकी है। इस बात को मान लीजिये। किन्तु क्या हम एक सीधा प्रश्न अपने सामने रख सकते हैं कि जिस देश को आज से कल-कारखानों का जीवन प्रारम्भ करना हो विलायती कलों का मुकाबला किस प्रकार कर सकता है। लंकाशायर के कारखानों की कलों का गुप्त भेद बहुत कम लोगों को मालूम है जो प्रायः प्रतिदिन परिवर्तित होती रहती है, जिनमें नित्य सुधार होते रहते हैं जो उसके खास व्यवसायी को ही मालूम होते हैं।

जब हम कोई कल खरीदना चाहें और कलों को बनाने वाला हमें बिल्कुल नए ढंग की कल ही दे, तब भी उन कलों के तैयार होकर यहां खड़े किये जाने और चालू होने तक में छः से दस बरस तक लग ही जायँगे। इतना समय, कल तैयार करने वाले देशों में नित्य के आविष्कारों में अबनरवत होड़ के कारण, उन कलों की पुरानी अप्रचलित सिद्ध कर देने के लिये पर्याप्त है। जो कलें इंगलैंड से भारत में आकर खड़ी होंगी, और जो खुद इंगलैंड में ही चल रही होंगी उनके मध्य कितनी अधिक प्रतिद्वन्दिता होगी। उदाहरणार्थ एक मामूली कागज की मिल को लिया जा सकता है जो किसी जगह भारत में खड़ी की जा रही हो वह स्कैंडिनेविया

की कागज की नई से नई भारी मिलों का क्या मुक़ाबला कर सकती है इस तरह खड़ी की गई हुई असंतोषजनक कर्मचारियों और अपर्याप्त पूंजी से चालू की हुई, कुछ ही पुरानी बन गई आज की कलों को विलायत की नित्य सुधार और आविष्कार से उन्नत की जाती हुई कलों के मुकाबले हम बैलगाड़ी ही कह सकते हैं।

भारत की प्रबल शक्ति

यथार्थ बात यह है कि चीन को छोड़कर भारत की भांति संसार में कोई ऐसा देश नहीं है कि किसी जन संख्या उस देश को असीम प्रबल शक्ति सम्पन्न बनाती है। चीन और भारत के ऐसे देश हैं जिनमें संसार पर शासन करने की यथार्थ शक्ति है किन्तु उनमें इस तरह की हीन महत्वाकांक्षा नहीं है, वे अपना ही शासन कर सकने में संतुष्ट रहेंगे। भारत की जन संख्या के बल द्वारा ही ग्राम-उद्योग का पोषण होता है और वे कलों द्वारा तैयार चीजों के मुकाबले भी ठहर सके हैं। इस बात को दुनियां कबूल करती है कि हमारे देश का जुलाहा मिल मालिकों के मुकाबले अब भी ठहरा हुआ है। असल में उसके लिये जो बात सहायक है वह है मुफ्त की मेहनत। कारीगरों को जब कोई नहीं रहता, उस समय वह अपने स्त्री बच्चों के साथ मिल कर अपनी कारीगरी में लगे रहते हैं, इनसे चीज सस्ती बनती है, कारीगरों को एक नई चीज तैयार करने की खुशी होती है। वह उस कारीगरी को अपनी कह सकने का गौरव अनुभव करता है। सारा परिवार एक ही जगह रहता है, उनके प्रेम और आचार भंग नहीं होने पाते। चीजों की तैयारी में जो थोड़ा अतिरिक्त व्यय बैठता है, वह एक सहायतार्थ धन के रूप में होता है जिसे देश भक्त ग्राहक एक लोप होते हुए शिल्प के पुनर्जीवन के लिये अपनी खुशी से देता है। इस तरह अल्प-संख्यक धनिक उद्योगपतियों के हाथ में जाकर एक जगह संचय होने के स्थान पर धन और मजदूरी का बराबर रूप से

बटवारे का निश्चय हो जाता है। ऐसे ही धन के एकत्र संचय होने के कारण पाश्चात्य देशों में एक ओर गगन-चुम्बी भवनों और दूसरी ओर श्रमिकों की गंदी झोपड़ियों का जन्म हुआ है।

नए समन्वय की आवश्यकता

हमें यह नहीं समझना चाहिये कि हिन्दू संस्कृति और ग्रामों के पुनरुद्धार का समर्थन करते हुए—वा अधिक प्रचलित शब्दों में भारत पुनरुद्धार करने के लिये उद्योग करते हुए—हम संस्कृति, अर्थशास्त्र और राजनीति की खिचड़ी पका रहे हैं। हां, यह बात जरूर है कि प्राचीन समय में इस तरह का संविभाजन ज्ञात नहीं था जीवन एक और अविभाज्य है। लोगों के आर्थिक संगठन की रक्षा सामाजिक लोकमत और एक उन्नत चेतना के अनुशासन के प्रयोग द्वारा होता था। इन दोनों को जीवन के रग रग में परिव्याप्त एक धार्मिक आदर्शवाद की कुछ भक्ति से सहायता मिलती थी।

इस प्रकार समाज की रक्षा केवल कानून के बड़े अंकुश से होती थी, बल्कि एक अत्यधिक उन्नत और सतत प्रभावशील लोक-मत द्वारा और इसके ऊपर एक तीव्र संवेदनशील चेतना द्वारा होती थी। इस प्रकार जीवन के कार्य भौतिक, बौद्धिक, और नैतिक थे, इन में नैतिक का सब से ऊंचा स्थान था किन्तु समय की गति ने विपरीत क्रम से एक दूसरे के ऊपर के प्रभाव को मिटा डाला है। समाज की रचना एक समय इस महत सिद्धान्त पर हुई थी कि धन जो राष्ट्र को केवल धनी ही नहीं बल्कि शक्तिशाली बनाता है, उद्योग धंधों, बुद्धि, और श्रमजीवियों के कल्याण के लिये अवसर होता है। यह बात विशेष कर उस देश में अवश्य होनी चाहिये जो गरीबों का वास्तविक देश है।

किन्तु, लोवेल के कथनानुसार, सभी मतों, रायों और राजनीतिक सिद्धान्तों की प्रवृत्ति होती है कि वे जहां एक बार संस्थाओं के रूप में व्यक्त हुए होते हैं, अव्यवहृत हो जाते हैं, क्योंकि जो

मुख्य और रचनाकारी सिद्धान्त विचार-धाराओं वा शासन-व्यवस्था के भेद प्रभेद रूप में विश्लेषित होने के समय क्रियाशील रहता है, अपनी क्रियाशीलता मिटा देता है, और जो एक समय चिरंतन चित्त का सजीव निस्सरण था, और इतिहास में सुव्यवस्थित रूप में व्यवहृत था, केवल बातचीत में आने वाला व्यर्थ सूत्र और इतिहासज्ञों के लिये नीरस विषय रह जाता है। इस लेख द्वारा बताई अवस्था हिन्दू संस्कृत की आ पहुंची है। यह एक व्यर्थ सूत्र और नीरस विषय रह गई है। इसके पूर्व गौरव की स्मृति केवल कुछ आस्थाओं, प्रथाओं और रीतियां में रह गई है। अतएव हमें इसके संस्थापकों के मूल उद्देश्यों और लक्ष्यों के जानने के लिए पिछली बातों पर विचार करना चाहिये और आज की ठोस बातों और लक्षणों को छोड़ कर उन आदर्शों के वातावरण में पहुँचना चाहिए जिसमें इसके अनेक लक्षणों की उत्पत्ति हुई थी।

ऐसा करने पर हमें तुरन्त यह अनुभव होगा कि किसी राष्ट्र की संस्कृति उसके धार्मिक अभ्युदय की वाह्य अभिव्यक्ति होती है। यदि धर्म प्रेरक शक्ति है तो संस्कृति उसका प्रत्युत्तर है। और जब धार्मिक स्फुरण दुर्बल हो जाता है तो लोगों पर से संस्कृति का प्रभाव भी मिट जाता है। हिन्दू संस्कृति केवल एक बौद्धिक सूक्ष्म-दर्शिता नहीं है बल्कि जीवन की सर्वांगीण व्यवस्था का प्रतिरूप है जिसके अन्दर सामाजिक नियम और नागरिक संस्थाओं का समावेश है जो युगों के प्रहार का सामना करती चली आई है।

हम लोगों ने देख लिया है कि किस प्रकार समाज की नींव ही इसका मुख्य विषय रही है और सम्पत्ति तथा विद्या, भौतिक तथा आध्यात्मिक के मध्य बड़ी सावधानी से संतुलन स्थापित किया गया था, किस प्रकार आनुक्रमिक सदियों और आनुक्रमिक आक्रमणों के प्रहारों ने उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ा है, और किस प्रकार अबोधगम्य रूप से, पिछली डेढ़ शताब्दी के पाश्चात्य सभ्यता

के सम्पर्क द्वारा संचारित विश्वासघाती प्रभाव की समाज रग रग में व्याप्त हो गए हैं और उनकी नींव तक को हिला दिया है। जीवन की बिल्कुल व्यवस्था ही पलट गई है। और "उपयुक्त लक्षणों के साथ आदर्शों की नई व्यवस्था" आ उपस्थित हुई है। संस्कृति और विवेक का स्थान धन और शक्ति ने ले लिया है तथा उन्हें बिल्कुल उखाड़ फेंका है। सामाजिक मर्यादा का स्थान ठेकों ने ले लिया है, और प्रजातंत्रात्मक कही जाने वाली प्रवृत्तियों ने केवल भेद उत्पन्न करने वाली शक्तियां ही खुली छोड़ी हैं।

अब एक बार फिर हिन्दू समाज को अपनी प्राचीन संस्कृत को ऊंचे आसन पर बैठने और उसे अंधकार और निराशा के गड्ढे में गिरते हुए लाखों करोड़ों व्यक्तियों के लिये प्रकाशस्तंभ रूप बनाने की आवश्यकता है। नए नए समन्वय की आवश्यकता है जो जीवन के प्राचीन आदर्शों के साथ समाज की वर्तमान अवस्थाओं के संयोग को प्रकट करे और इसके लिए एक संस्था बनाने की आवश्यकता है जिसका मुख्य लक्ष्य और अध्ययन का विषय भारत की तीव्र गति से विलुप्त होती हुई संस्कृत को पुनर्जीवी करना और उसे भारतीय राष्ट्रीयता की वास्तविक कुंजी बनाना हो।

निष्कर्ष

हम सब बातों का सारांश लिखेंगे। भारत का एक प्राचीन संगठन था, जिसमे देश का सब भाग, सभी गांव स्वतः पूर्ण थे। ऐसे संगठन के पाश्चात्य औद्योगिकवाद के प्रहार के कारण लोप हो गया। पाश्चात्य औद्यौगिकवाद का आधार बड़े पैमाने पर उत्पादन और प्रतिस्पर्द्धात्मक मूल्य है। इस उद्देश्य के लिए प्रतिस्पर्द्धी राष्ट्रों के मध्य संसार की मंडियां विवाद की जड़ हैं। पिछले महायुद्ध के कारणों में से एक कारण यही था, दूसरे महा-युद्ध का भी यही है। पाश्चात्य औद्योगिक राष्ट्रों द्वारा आकांक्षित विक्रय-क्षेत्र पूर्व के देश हैं। पूर्व में आत्म-चेतना उत्पन्न हो गई

है और वह उस दासता का अनुभव करने लगा है जिसमें वह बँधा है। जापान से मिस्र तक—पूर्वी राष्ट्रों ने अपनी मंडियों पर विदेशी चीजों के आक्रमण के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ कर दिया है। इसलिए दो बातें निश्चित रूप से होंगी। पूर्वी राष्ट्र अपना उत्पादन बढ़ाएंगे और ज़रूरतें कम करेंगे। पश्चिमी अपना उत्पादन कम करेंगे और खाद्य सामग्री तथा कच्चे माल की स्वयं उत्पन्न करने का प्रयत्न करेंगे। इस तरह पूर्वी और पश्चिमी दोनों रेलगाड़ियां एक दूसरे के निकट आ रही हैं—इस समय वे क्षणिक रूप से पृथक दिशाओं में जा रही हैं।

इसके लिए पूर्व को पश्चिम के सम्मुख आदर्श रखना चाहिये पश्चिम अपने कड़ुवे अनुभव के बिना नहीं सीखेगा। पश्चिम कड़ुवा अनुभव कर चुका है और सीखना प्रारम्भ कर दिया है। एक बार मुख्य बात समझ में आ जाने पर, ब्योरे की बातें पूरी करने में समय न लगेगा।

भारत में इस काम को हाथ में लेने वाला बड़ा राष्ट्रीय संगठन कांग्रेस है। कांग्रेस कभी उग्र रूप का आक्रामक कार्य-क्रम रखती है और कभी रचना तथा पुनर्रचना का कार्य-क्रम रखती है। सन् १६२२ में कांग्रेस को १२ अप्रैल, १९३० तक विश्राम का अवसर मिला। उसे फिर २० मई, १९३४ से शान्त रहने का अवसर मिला है। इन शान्ति के समयों में धारा-सभाओं में जा कर कुछ लोग आंदोलन जारी रखते हैं। इनमें न पड़ने वाले लोग रचनात्मक कार्य में लगे रहते हैं। ऐसे ही रचनात्मक कार्यों में पहला काम खद्दर का था। पहले लोगों को यह विश्वास नहीं था कि खद्दर विदेशी कपड़े को भगा सकने में समर्थ होगा। किन्तु खद्दर ने यह लगभग कर दिखाया है। जागृत राष्ट्र की चेतनता होती है और वह सभी राजनीतिक तथा आर्थिक कानूनों तथा प्रतिबंधों से अधिक प्रबल होती।

खद्दर ग्राम-उद्योगों का राजा है। इसने अपना काम कर लिया है, किन्तु एक पुनरुत्थान का अग्रदूत होने के कारण इसे अन्य ग्राम-उद्योगों के पुनर्जीवन का भी प्रयत्न करना चाहिये। इसी काम को गांधी जी कांग्रेस के आदेश से 'अखिल भारतीय ग्राम-उद्योग संघ' स्थापित कर रहे हैं। हम यहां पर कांग्रेस और संघ के उद्देश्य के प्रस्ताव की प्रतिलिपि देते हैं जो बम्बई में बा० राजेन्द्र प्रसाद के सभापतित्व में ४८वें अधिवेशन में स्वीकृत हुआ था।

कांग्रेस का प्रस्ताव

चूंकि कांग्रेस-वादियों के सहयोग से और सहयोग के बिना भी स्वदेशी की उन्नति करने का उद्देश्य बताने वाली संस्थाएं देश भर में खुली हैं और चूंकि स्वदेश के सच्चे रूप से संबंध में लोगों में बहुत भ्रम फैल गया है, और चूंकि कांग्रेस का उद्देश्य इसके जन्म के प्रारम्भ से ही उन्नति करते हुए रूप में जनता में मिले रहना रहा है और चूंकि ग्राम पुनर्संगठन और पुनर्रचना कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम का एक विषय रहा है और चूंकि ऐसी पुनर्रचना का स्वाभाविक मतलब हाथ की कताई के मुख्य उद्योग के अतिरिक्त लुप्त वा लुप्त होते जाते हुए अन्य ग्राम-उद्योगों को प्रोत्साहन देना है, और चूंकि हाथ की कताई के पुनर्संगठन की तरह एक काम केवल केन्द्रित और विशेष उद्योग द्वारा ही संभव है जो कांग्रेस के राजनीतिक कार्यों से अप्रभावित और स्वतंत्र रहे; इसलिए श्री० जे० सी० कुमारप्पा को गांधी जी के आदेश और नियत्रंण में कांग्रेस के कार्यों के एक भाग रूप में 'अखिल भारतीय ग्राम-उद्योग संघ' नाम की समिति स्थापित करने का अधिकार दिया जाता है। उपर्युक्त समिति उपर्युक्त उद्योगों के पुनरुत्थान और प्रोत्साहन और गांवों की नैतिक तथा भौतिक उन्नति के लिए कार्य करेगी, और उसे अपनी नियमावली बनाने, चंदा एकत्रित

करने तथा ऐसे कार्य करने का अधिकार होगा जो उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक हों।

उद्देश्य

इस संघ का उद्देश्य ग्राम पुनर्संगठन, पुनर्रचना, जिसमें ग्राम उद्योगों का पुनरुत्थान, प्रोत्साहन और उन्नति भी सम्मिलित है, तथा भारत के ग्रामों की नैतिक और भौतिक उन्नति करना होगा।

मिल का कपड़ा बनाम खादी

बहुत से लोग पूँछते हैं कि खद्दर और स्वदेशी प्रदर्शिनियों से मिल के कपड़े को क्यों बाहर कर दिया जाता है और मिल का कपड़ा जो स्वदेशी है कांग्रेस कार्य कर्ताओं में पदाधिकारियों को पहनने को क्यों नहीं अधिकार दिया जाता। एक बात यह है कि मिल के कपड़े को, जिस को भारी पूँजी का आश्रय रहता है, उसके विज्ञापन के लिये कठिनाई से चलने वाली प्रदर्शिनियों की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। कांग्रेस संगठन में किसी भी निर्वाचित समिति में स्थान के लिए चुनाव में खड़े होने के लिए खद्दर पहनना आवश्यक शर्त है।

बहुत से लोग मिल के कपड़े में निहित आर्थिक और नैतिक अभिप्राय को नहीं समझते। मिल का कपड़ा स्वदेशी है, किन्तु सभी स्वदेशी चीजें गरीबों की सहायता नहीं करतीं। भारतीय शासन व्यवस्था में केवल इसी बात को नहीं देखना है कि देश की ब्रिटिश साम्राज्यवाद से रक्षा की जाय, बल्की भारतीय पूँजीपतियों के पंजे से भी रक्षा करनी है।

मिलों का संचालन भारी पूंजीपतियों द्वारा होता है जो गांव से कस्बे में मजदूरों को खींच लाते हैं। और जब हम मजदूरों के जीवन की अवस्था को देखें और उसकी अवस्था से तुलना करें जिन में वे गांवों में रहते थे और जहाँ का वास छोड़ कर वे कस्बे

में पहुंचे हैं तो यह तुलना हमको इतना स्तब्ध कर देगी कि इस पर बड़ी गंभीरता से विचार करने की जरूरत मालूम पड़ेगी।

मिल के मज़दूर का कोई ऊँचे दर्जे का काम नहीं होता। उनकी रचनात्मक भावना लुप्त हो गई रहती है। वे कोई भी चीज शुरू से आखीर तक नहीं बनाते। वे कल में कुछ लगाते रहते हैं या तागा खींचते रहते हैं, या पुलिन्दों की संख्या गिनते रहते हैं या किसी पुर्जे पर पानी गिराते रहते हैं, या किसी पुर्जे में तेल लगाते हैं। उसे घुमाते वा मरोड़ते रहते हैं और इतने में ही उनका दिन भर का काम खतम हो जाता है। शाम को उन्हें सिर्फ मजदूरी भर की फिक्र रहती है, उस काम की तरफ ध्यान नहीं रहता जो उन्होंने किया होता है। वे उस जड़ पदार्थ को जिसका कच्चा पदार्थ बना होता है, एक सजीव रूप देकर उसे प्राणयुक्त पूरी तैयार चीज नहीं बनाए होते।

इसकी तुलना एक शिल्पकार से कीजिए जो पत्थर के भद्दे टुकड़े को ले लेता है और उसे गढ़कर एक सुन्दर आकार प्रदान किए होता है। अथवा जुलाहे की बात लीजिए जो दिन भर में एक कपड़े का टुकड़ा बुने होता है। वह उसका मालिक होता है उसे बेच सकता है, कहीं गिरो रख सकता है, अपने पुत्र की शादी के लिये उठा कर रख सकता है। किन्तु मिल का मजदूर दिन भर मिहनत करता है और अप्राकृतिक अवस्था तथा सांस भी न ले सकने योग्य परिस्थिति में किए काम की थकान मिटाने के लिए अपनी मजदूरी का तीन चौथाई नहीं तो आधा हिस्सा जरूर ही शराब पीने में खर्च कर देता है। मानव शक्ति को जीवन प्रदान करने वाली वस्तु मजदूरी की रकम नहीं है, बल्कि काम का आनन्द है। मिल के मजदूरों के हिस्से काम का आनन्द नहीं पड़ता।

नैतिक पहलू पर विचार करने पर हम देखते हैं कि किस प्रकार पुरुष अपने ही परिवार की स्त्रियों से भी सम्पर्क पृथक कर दिए जाते हैं और वे दूसरे परिवार की स्त्रियों के सम्पर्क में आते

हैं। मिल में काम करता हुआ परिवार एक इकाई, ठोस इकाई नहीं होता जो एक उत्पादक कला के सम्पन्न करने में लगा हो, बल्कि खंडित रहता है। बच्चे तक माताओं की गोद से पृथक होते हैं। मिलों में फौजी संगठन होता है, किन्तु ग्राम-उद्योग में गृहस्थी की मर्यादा अखंडित रहती है और उत्पादित वस्तु का स्वामित्व भी बना रहता है।

लोग मिल के कपड़ों की सस्ती की बात करते हैं किन्तु यह नहीं देखते कि जिन चीजों की सस्ती को वे खोजते हैं, वही उनके गरीब पड़ोसियों की बर्बादी की कारण है। एक मिल जो प्रति दिन ५०० पौंड कपड़ा, लगभग १५००० गज लम्बा बुनती है। १००० जुलाहों को बेकार करती है। कृषि के बाद बुनाई ही सबसे सामान्य धन्धा है। क्योंकि भोजन के बाद जीवन की सबसे आवश्यक वस्तु वस्त्र ही है। इसलिये जब हम भोजन और वस्त्र दोनों विदेश से मँगवाने लगें तो देश के दोनों मुख्य धन्धों को हम बर्बाद कर दिए रहेंगे। इसी कारण हम आग्रह करते हैं कि देशी चीजें ही खाई जायँ और खद्दर ही पहना जाय। खद्दर केवल जुलाहे का ही पोषण नहीं करता, बल्कि गांव की विधवाओं असहाय, अबलाओं, पुत्रहीन माताओं और निराश्रय वृद्धाओं का भी सहारा होता है।

छोटी बातों का बड़ा परिणाम निकलता है। इसे हम इस तरह देख सकते हैं। यदि किसी गांव में ३०० चरखे चल रहे हैं तो दो आना प्रतिदिन के हिसाब से कताई करने वाली औरतों की मजदूरी ४०) प्रति दिन और २५ दिन में १०००) हुई। बारह महीने में इन औरतों की कमाई सिर्फ चरखे द्वारा १२०००) हो जायगी। और ऐसे भी गांव हैं जो कताई की पुरानी दर ~) प्रति-दिन के हिसाब से पिछले १६ वर्षों में एक लाख रुपया कमा चुके हैं। अब कताई की मजदूरी दो आना प्रति दिन कर दी

गई है। इसलिए उनकी आयु दुगनी हो जायगी। क्या गांव की आय में यह छोटी रकम है? क्या यह उसके लिए भारी बचत नहीं है? लोग इस बात का अनुभव क्यों नहीं करते।

जब मैंने एक जमींदार से यह किस्सा सुनाया कि एक जमींदारी के गांवों को कताई से कितना लाभ हुआ है तो वह उछल पड़ा और उसने अपने जमींदारी के गांवों में चरखा चलवाने की व्यवस्था करवाई। बात यह है कि कताई से कमाए हुए धन के चौथाई हिस्से से ही किसान देन और जमींदार की लगान चुकता कर सकने में समर्थ हो जाते हैं, इसलिये वे अपनी गाढ़ी कमाई की पैदावार को रोके रहते हैं और बाजार चढ़ने पर उपज को बेचते हैं जिससे उनको काफी दाम मिल जाता है।

हमने कहा है कि प्रत्येक मिल १००० मजदूरों की रोजी मारती है। प्रत्येक धान कूटने की मिल प्रति दिन १५०० परिवारों की रोजी अर्थात् ६००० पेटों का खाना छीन लेती है कपास ओटने का हर एक कारखाना प्रति दिन ६६ आदमियों की रोजी मारता है। इस तरह लोगों के बेकार हो जाने का लेखा लगाया जा सकता है जो कलों के उद्योग-धन्धों की भारी उत्पादक शक्ति के कारण बेकारी में पड़ते जाते हैं।

यह सब मुनाफा कहां जाता है? कुछ तो धनी मिल-मालिकों की जेब में जाता है। और कुछ विदेशी व्यापारियों के हाथ में जाता है जो कल बनाते हैं, उसमें जलाने की चीजें, तेल आदि, पुर्जों में लगाने वाले चिकनाई के तेल, तथा कलों के पुर्जे आदि देते हैं और उसमें भारी मुनाफा उठाते हैं। इस तरह मिलें धनी को अधिक धनी और गरीब को अधिक गरीब बनाती हैं। मिल का कपड़ा न प्रयोग करने के लिये यही विचार है। जो कोई जुलाहा भारतीय मिलों का सूत लेकर कपड़ा बुनता है, वह भी भारत में लगी हुई विदेशी पूँजी की ही वृद्धि करता है। इस तरह

मिलों का कपड़ा इस्तेमाल करने से ही भारतीय पूँजीपतियों को ही मोटा नहीं बनाया जाता बल्कि विदेशी पूँजीपति मोटे होते हैं और मुनाफा विलायत जाता है।

जो लोग खद्दर खरीद सकते हों उन्हें कभी भी, किसी दृष्टि से मिल का कपड़ा नहीं पहनना चाहिये और जो लोग न खरीद सकते हों, उन्हें भी खद्दर का प्रयोग करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से पड़ोसी की रोज़ी चलाने में मदद हो जाती है। मिल का कपड़ा सस्ता मालूम पड़ सकता है किन्तु खद्दर से आधा भी टिकाऊ नहीं होता। इस तरह दामों की कमी-बेशी पूरी पड़ जाती है। एक दूसरा उपाय भी है। जो लोग खद्दर पहनें वे कुछ छोटा कपड़ा और कम संख्या में पहन सकते हैं। इस तरह खद्दर के कुछ ज्यादा दाम का पड़ता पड़ सकता है। किसी भी प्रकार हम खद्दर के लिये जो अधिक पैसा देते हैं वह स्वदेश के एक गरीब कारीगर और लुप्त होते हुये शिल्प के लिये सहायतार्थ दान रूप में होता है, इस तरह इस अधिक खर्च की यह शिकायत करने का मौका नहीं है।

भविष्य का शत्रु विदेशी कपड़ा नहीं है, क्योंकि लंकाशायर के कपड़े की मौत हो गई है, वह लुप्त हो गया है, वह फिर कभी लौट नहीं सकता। लंकाशायर के मिल-मालिक भारतीय व्यापारिक प्रतिनिधि-मंडल के सामने घुटने टेक कर प्रार्थना कर रहे थे कि भारत लंकाशायर से १७ करोड़ रुपये का कपड़ा खरीदे, किन्तु व्यापारिक प्रतिनिधि-मण्डल ने, जिसमें नर्म दल और मिल मालिक थे, इस माँग को बिलकुल नामंजूर कर दिया था और कहते थे कि ३॥ करोड़ से अधिक कपड़ा लंकाशायर से नहीं लिया जा सकता। ऐसी हालत में अब हम लोगों को गरीबों के दूसरे दुश्मन भारत के धनी मिल-मालिकों से लड़ना है।

———

अध्याय ८

यंत्रों के दुष्परिणाम

१—यांत्रिक बल के उद्योग-धंधों से युद्ध छिड़ता है।

अठारहवीं सदी के अंत में भाप के इंजिन के आविष्कार के बाद मानव सभ्यता का एक नया युग प्रारम्भ हुआ जिसमें उस समय तक हाथ से चलाए जाने वाले औज़ारों को यान्त्रिक बल से चला कर बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाने लगा। जो चीजें पहले हाथ द्वारा बनती थीं उनकी अपेक्षा बड़े पैमाने पर कलों द्वारा बनी वस्तुएँ सस्ती होने लगीं। उनकी बिक्री के लिए बड़ी मंडियों की आवश्यकता होने लगी। मडियों की खोज से देशों की विजय के उद्योग होने लगे जिससे विजित देशों पर राजनीतिक और अनीतिक प्रभाव रक्खा जा सके। विजित देशों में हाथ से बनी चीजों के स्थान पर कल की बनी चीजें बेची जाने लगीं जो ज्यादा सस्ती और अच्छी थी। नए पैमाने के भारी औद्योगिकवाद के लिए फौजों को रखने की जरूरत पड़ी जिससे कच्चे माल उत्पन्न करने के क्षेत्र पर एकाधिकार रक्खा जा सके जिससे कलें चल सकें, और मंडियों पर एकाधिकार रक्खा जा सके जहां उन कलों का तैयार माल बेचा जा सके। इसके अतिरिक्त विजित जातियों को विजेताओं की भाषा और रहन-सहन, फैशन और पहनावे, ग्रहण करने के लिये बाध्य किया जाता जिससे उनको पहले तो औद्योगिक देशों की कलों द्वारा तैयार चीजों को बलात ग्रहण कराया जाय, फिर वे चीजें उनमें स्वयं लोकप्रिय हो जायँ।

यह योजना पहले काम कर गई, कुछ दशकों तक चलती रही। उन्नीसवीं शताब्दी भर इंगलैंड और जर्मनी सरीखे राष्ट्र खूब सम्पन्न दिखाई पड़े और एशिया तथा आफ्रिका में साम्राज्य स्थापित करते रहे, तथा इन दोनों महाद्वीपों के धन पर मोटे होते रहे। किन्तु शीघ्र ही वह समय आया जब उत्पादन इतनी अधिक मात्रा में बढ़ने लगा कि पश्चिम की इन दो प्रबल शक्तियों में ही प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो गई। फ्रांस जितना औद्योगिक था उतना ही कृषि-जीवी, इटली कृषि-जीवी ही अधिक था, रूस उन्नीसवीं सदी के अधिकाँश भाग तक इतना कृषि-जीवी था, कि एशिया और अफ्रीका की तरह वह भी इंगलैंड और जर्मनी की तैयार चीजों की मंडी था, और अपने देश में बड़े पैमाने पर पैदा होने वाले गेहूँ से कल द्वारा तैयार चीजों की अदला-बदली करता था। औद्योगिकवाद की तेजी और परेशानी पिछले महायुद्ध के रूप में फूट पड़ी। जिसके छिड़ने का मूल कारण तत्कालीन राजनीतिक घटनाएं नहीं थीं, बल्कि औद्योगिक प्रतिस्पर्द्धा थी।

२—युद्ध और उसके दुष्परिणाम

यह सबको ज्ञात है कि योरप का पिछला महाभारत कलों और उद्योग-धन्धों की पूजा के कारण उत्पन्न हुआ था। उस महा-युद्ध का ध्वंसलीलाएं, उसके भीषण आर्थिक परिणाम, और बिल्कुल निर्दोष दिखाई पड़ने वाले भाप के इंजिन अन्य यांत्रिक बल (गैस, इंजिन, तैल इंजिन, तथा पेट्रोल इंजिन और बिजली का डायनमो और मोटर भी) के भयंकर परिणामों का यहाँ पर कुछ विस्तार से अध्ययन करना चाहिए जिससे सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र की भीषण परिस्थिति का कुछ अनुमान हो सके।

महायुद्ध की भौतिक हानि पर हम पहले विचार करेंगे। प्रो० एल० बोगर्ट के अनुमानुसार महायुद्ध की प्रत्यक्ष हानि

१८६,००,००,०००, एक खरब, छियासी अरब और अप्रत्यक्ष हानि १५१,००,००,००,०००, एक खरब इकयावन अरब डालर अर्थात् दोनों के योग कुल ३, ३७, ००,००,००,००,००० तीन खरब सैंतीस अरब अर्थात् एक लाख करोड़ (दस खरब) रुपए की हानि हुई। यह ध्यान में रखने की बात है कि जीवन, मनुष्य की जीवन शक्ति, कुशलता नीति, आचार और मानव सम्बन्ध के अन्य रूपों पर जो प्रभाव पड़ा उसकी गिनती इस हानि में नहीं की गई है। युद्ध काल के पांच वर्ष में हुई हानि का यथार्थ लेखा रुपयों में बता सकना असंभव है।

धन की इतनी हानि तो हुई है किन्तु जन की जितनी हानि हुई वह अधिक भयानक है। संसार के इतिहास में कभी इतने अधिक मनुष्य एक दूसरे द्वारा बध होने के लिए एकत्र नहीं हुए। युद्ध काल में कुल ६ करोड़ सैनिक युद्ध के लिए तैयार किए गए थे और लड़ाई में भाग लेने वालों में अस्सी लाख सैनिक मारे गए वा बीमारी से मरे, एक साम्राज्य के मरों और घायलों की संख्या ३० लाख थी।

उपर्युक्त संख्या केवल लड़ने वाले सैनिकों की है। साधारण नागरिकों की मृत्यु संख्या भी भयानक है। पूर्वी योरप और तुर्की साम्राज्य में नागरिकों की मृत्यु संख्या बहुत थी। अनुमान किया गया, है कि प्रत्येक मृत सैनिक पीछे ५ नागरिक भूख प्यास, मैदान में रहने बीमारी, कत्ले आम, वा बच्चों की मृत्यु संख्या बढ़ने से मरे। साधारण मौत के अलावे ४० लाख आदमी युद्ध के कारण उत्पन्न बीमारियां—युद्ध ज्वर, इन्फ्लुएंजा) और न्युमोनिया से मरे। प्रत्यक्ष रूप से युद्ध के कारण मरों की संख्या ४ करोड़ बताई जाती है। और यदि संतान उत्पत्ति में कमी को भी जोड़ा जाय तो यह संख्या ५ करोड़ होगी।

जन-संख्या के ह्रास का एक नमूना फ्रांस का उदाहरण लेकर

देखा जा सकता है। १६१४ ई० में फ्रांस की आबादी ३,६७,००,००० तीन करोड़ सत्तानबे लाख थी। इस मामूली जन-संख्या में से लगभग ८० लाख युद्ध के समय फौज में बुलाए गए, उनमें से १४ लाख मारे गए, ३० लाख घायल हुए, और ४ लाख से अधिक कैद हुए। घायलों में से ८ और ९ लाख के बीच स्थायी रूप से शारीरिक रूप से लुंज हो गए थे। इस तरह पूरे २० लाख मनुष्य जिनमें से अधिकांश देश के चढ़ती जवानी वाले पुरुष थे—मर गए वा लुंज होकर असहाय हो गए।

इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि युद्ध में सब से वीर और साहसी व्यक्तियों की ही मृत्यु हुई। मोर्चे पर सामने आक्रमणकारी वा रक्षक सेना में सब से साहसी सैनिक रक्खे जाते हैं। वे भयंकर युद्धों में भाग लेते हैं, इस लिए मरों और घायलों में उन्हीं की संख्या अधिक होती है, इसलिए युद्ध के बाद देश में शौर्य-हीन जनता ही रह जाती है।

युद्ध का एक दूसरा भयंकर परिणाम युद्ध की समाप्ति पर बेकारी की वृद्धि है। बेकारों का लेखा देखने पर पता चल सकता है कि युद्ध के बाद योरप में एक करोड़ ५० लाख परिवारों को बेकार वृद्धि देकर उनके भोजन का प्रबंध किया जाता था।

३—युद्ध के दुष्परिणाम का प्रतिकार

नार्मन एंजेल ने इस शताब्दी के प्रारम्भ में भविष्य-वाणी की थी और साबित किया था कि युद्ध के परिणाम विजित की अपेक्षा विजेता के लिए ही अधिक हानिकर होते हैं उन्होंने अपने सिद्धान्त की पुष्टि बुअर युद्ध में की। वे अपने सिद्धान्त को दुबारा सच साबित देखने के लिये पिछले महायुद्ध के समय भी जीवित थे। हमने पहले दिखाया है कि किस प्रकार महायुद्ध के पश्चात फ्रांस और इंगलैंड बेकारों की समस्या से परेशान हो गए थे। सच बात यह है कि महायुद्ध के प्रत्यक्ष और तात्कालिक ही नहीं बल्कि

अप्रत्यक्ष और विलम्ब में होने वाला नतीजा यह हुआ था कि पूर्व के देशों ने पश्चिमी देशों, विशेष कर इंगलैंड और जर्मनी के माल का बहिष्कार करना प्रारम्भ कर दिया था। लंकाशायर का कपड़े का व्यवसाय बहुत ही अधिक गिर गया था। १९३६ में ब्रिटेन से भारत में कपड़े की कुल आयात ३३ करोड़ ४ लाख गज कपड़ा था जब भारत की कुल खपत ५ अरब ७५ करोड़ गज अर्थात् आयात भारत की कुल खपत का ५७ प्रतिशत था।

१८१३—१९ और १९३६—३७ ई० के बीच भारत में लंका-शायर के कपड़े की खपत ५'८ प्रतिशत से घटकर ५८ प्रतिशत रह गई तथा भारतीय मिलों के कपड़े की खपत २२ प्रतिशत से बढ़-कर ६२'१ प्रतिशत हो गई, जब कि इस व्यवसाय में जापान का भाग जहां पहले कुछ नहीं था, वहां ७'२ प्रतिशत हो गया। और साफ तौर से समझने के लिये यह जान लेना चाहिये कि १९१३ ई० में ब्रिटेन से भारत में आयात कपड़ा ५० करोड़ का था किन्तु १९३७ ई० में वह ७ करोड़ ही रह गया।

हिन्दुस्तानी-ब्रिटिश व्यापारिक समझौते की बैठकों में जिनमें भारत सरकार द्वारा नियुक्त भारतीय व्यापारिक प्रतिनिधि-मण्डल में सर पुरुषोत्तम दास ठाकुरदास, कस्तूरभाई लालाभाई, लाला सीताराम और घनश्यामदास बिड़ला सरीखे नरम दल के व्यक्ति और व्यापारी और मिल-मालिक थे, लंकाशायर इस बात की प्रार्थना करता रहा कि भारत ब्रिटेन से ६०० लाख गज कपड़ा खरीदे किन्तु ये प्रतिनिधि ६३३ लाख गज से अधिक लेने के लिये राजी नहीं हो रहे थे। ब्रिटेन भारत में कपड़े की खपत के बदले इङ्गलैंड में भारतीय रुई की खपत यथा शक्ति बढ़ाने का जिम्मा लेने के लिए तैयार था किन्तु भारतीय प्रतिनिधि अपनी ही शर्तों पर डटे रहे।

इस प्रकार यह दिखाई पड़ रहा है कि कलों के साम्राज्य का लोप हो रहा है परिस्थितियां स्पष्ट रूप से इसके लोप हो जाने की बात प्रकट कर रही हैं। किन्तु यह इस युग के आर्थिक और सामाजिक पहलू ही हैं, जो समय की गति के कारण फूट कर बाहर निकले दिखाई पड़ते हैं। इस चित्र का नैतिक पहलू कलों के लिए इसकी अपेक्षा बहुत ही अधिक विनाशक है।

४—कलों की नैतिकता

जब हम कलों का विरोध करते हैं तो हम किसी अंधविश्वास द्वारा प्रभावित नहीं रहते। हम जिस बात का विरोध करते हैं, वह है कलों के युग का अत्यधिक प्रभुत्व-स्थापन, जीवन पर इसका बढ़ता हुआ प्रहार गांव के ऊपर लादी हुई इसकी गुलामी की जंजीर, मनुष्य के हुनर और व्यक्तित्व की बर्बादी, एक नए वैयक्तिकवाद की वृद्धि जो धनी और धनी तथा ग़रीब को और ग़रीब बनाता है, देश भर में घरों और परिवारों में अनैतिकता की वृद्धि, और अंततः राष्ट्रों के बीच सतत युद्ध की वास्तविक स्थिति, जो आज के संसार में राष्ट्रीय जीवन का स्थायी रूप हो गया है।

हम इन बातों का अध्ययन अधिक विस्तार से करेंगे। कलों की तेजी के कारण समय और दूरी की बाधा कट गई है। शारीरिक श्रम कम हो गया है, मानव-यातना के ज़ोर की कमी हो गई है। और भौतिक युग की संस्कृति नगरों में ही नहीं बल्कि गांवों के लोगों में लोक प्रिय हो गई है। अत्यधिक दूर की आवाज सुन ली जाती है, दूर के दृश्य पुनः प्रदर्शित किए जा सकते हैं। एक नई बाज़ीगरी और इन्द्रजाल जीवन में परिव्याप्त हो गया है जिसका मानव मनोभावों तथा मानव धारणा शक्ति पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है, भारी उद्योगपतियों का एक दिन में ही जन्म हो गया है। और सम्पत्ति का भारी संचय हो गया है, बाहर से देखने पर

व्यक्तियों ही नहीं बल्कि जन-समूहों और राष्ट्रों के मध्य एक बंधुत्व भावना जागृति मालूम पड़ती है। किन्तु एक नए शैतान, स्वार्थपरता के शैतान का भी जन्म हो गया है।

इनके कारण बेरोक व्यापार के सिद्धान्त का जन्म दिया गया और इसी की लहर उदार दल के नाम के साथ वह चली। किन्तु स्वार्थ-परता के सिद्धान्त पर कतिपय कुलीन वर्ग के व्यक्तियों वा कतिपय मध्य श्रेणी के प्रमुख व्यक्तियों का एकाधिकार नहीं रह सकता। कुलीन वर्ग ने पूंजी लगाई और माल तैयार किया, मध्य श्रेणी वालों ने उन मालों का वितरण किया. और धनी हो गए। इस तरह समाज में संघर्ष उत्पन्न हुआ जिसमें समाज के प्रत्येक दर्जे के आदमी अपने दर्जे से ऊपर उठाने के लिए उद्योग करने लगे। किन्तु उच्च और मध्य वर्ग, अनुदार और उदार दल, पूंजोपति और खुदरा व्यापारी—सब ने निम्न वर्ग, श्रमिकों को अकेला ही छोड़ दिया। अतएव एक आन्दोलन का जन्म हुआ—एक मजदूर आन्दोलन एक क्षीण समाजवादी आन्दोलन, एक तीव्र उदार आन्दोलन उत्पन्न हुआ जिसके कारण राजनीतिक क्षेत्र में मताधिकार देकर और आथिक क्षेत्र में मजदूरी की वृद्धि तथा पुरस्कार देकर तथा सामाजिक क्षेत्र में अनेक बीमों, विशेष सुविधाओं और बेकार वृत्तियों को देकर अवस्था में विशेष सुधार किया गया। किन्तु इन उपायों में कोई भी सम्पत्ति के यथार्थ उत्पादकों को अचेतन करने में समर्थ नहीं हो सका है क्योंकि खाने से और भूख बढ़ती है। मजदूरों द्वारा हड़ताल और मालिक द्वारा मजदूरों के बहिष्कार, मजदूरों द्वारा कारखाने के विध्वंस करने के प्रयत्न और मालिकों द्वारा मजदूरों पर गोलियों की बौछार ने दोनों के एक दूसरे के प्रति भयभीत रहने की चिरस्थायी स्थिति में डाल दिया है।

इधर मज़दूरों की आवश्यकता कम करते जाने वाली कलों की नित्य उन्नति की जा रही है। यदि कल की तदबीर से एक काम के करने में सौ आदमियों की जगह दस आदमी की ही दरकार रह गई थी तो आज की तदबीर से वहां एक आदमी ही काम पूरा करने के लिए काफी है। नतीजा यह है कि आज से कुछ दिन पहले जहां सौ आदमियों को काम दिया जाता था, उसकी जगह एक ही आदमी की दरकार रह जाने से ६६ के शत्रु हो रहे हैं।

जहां यह भीतरी रोग-कीटाणु है जो उद्योग-धंधों की जीवन-शक्ति को खा रहा है, वहां स्थूल रूप से यथार्थ बात यह रह जाती है कि नए नगर और कस्बे, जो नए उद्योग-धंधों के प्रचलित होने से बसे हैं, केवल अस्वास्थ्यकर और घने ही नहीं हो गए हैं, बल्कि वे गावों और ग्राम-उद्योगों के शत्रु भी हो गए हैं। जमीन और उसकी अटूट संचित शक्ति का त्याग कर दिया गया है। गांव के कारीगरों के हुनर और कौशल को भुलाया जा रहा है, और उनका लोप हो रहा है। बेकारी सब ओर छाई हुई है और उदार सरकार देश की बर्बादी और लोगों के भूखों मरते जाने की समस्या पर आंखे मूंदे ले रही है। शिल्प विज्ञान की जितनी ही वृद्धि हो रही है, लोग उतने ही अधिक पहले शारीरिक भूख से, बाद में आत्मिक भूख से मर रहे हैं।

कलों का साम्राज्य बेहिसाब ऊँचाई और बोझ का हो गया है, इस कारण प्राचीन रोम साम्राज्य की तरह अपनी ही ऊँचाई और बोझ के कारण भरभरा कर गिर रहा है। यह अधिक दिनों तक नहीं रह सकता। प्रतिस्पर्द्धा जो समाज की जड़ में घुस गया है, श्रमिक वर्ग में आत्म-चेतना उत्पन्न होने से बिल्कुल स्वाभाविक रूप से स्वयं मिट जाने की ओर प्रवृत्त हो रहा है। इस तरह यह

अनिवार्य हो गया है कि एक राष्ट्र दूसरे पर अवलंबित नहीं रहे। यह नहीं हो सकता कि एक राष्ट्र तो नित्य धन बटोरता ही जाय और दूसरा उनका दास बनने में संतुष्ट रहे। अब वह दिन दूर नहीं है जब प्रत्येक राष्ट्र स्वावलंबी बन जायगा। यह आर्थिक और भौगोलिक दोनों आवश्यकता है। ऐसा आदर्श प्राप्त करने के लिए भारत बहुत उपयुक्त स्थिति में है। जब एक राष्ट्र स्वावलंबी हो तो वह अपने अन्दर दो श्रेणी, एक तो पूंजीपति मालिक और दूसरा परिश्रम करता हुआ दास फिर से उत्पन्न नहीं होने दे सकता। यदि संभव होगा तो प्रत्येक प्रान्त स्वावलंबी होने का प्रयत्न करेगा, संभव होने पर प्रत्येक गांव स्वावलंबी बनेगा। भारत में यह बात पांच हजार वर्ष पहले हुई थी, और आज हम प्राचीन युग के समाजवाद की पुनः खोज कर रहे हैं।

भू-भागों के स्वावलंबी होने और ग्राम-उद्योगों के पुनर्जीवित करने का अर्थ यह नहीं है कि कलों का त्याग किया जाय। यदि ऐसा हो तो मोटरकार, रेलगाड़ी, तार, हम लोगों के चश्मे, कलमें, पेंसिलें दवाएं, और अन्य बहुत सी दैनिक व्यवहार की चीजें नहीं दिखाई पड़ेंगी। कल को एकांगिक रूप से धन बटोरने का साधन न रह जाना चाहिये। श्रम बचाने के यंत्र रूप में इसका समाज में अपना एक स्थान और कार्य है किन्तु श्रम बचाने से एक ओर तो भूखों मरने की नौबत आती है और दूसरी ओर धन का अगाध भंडार जुटता है तो कल चाकर नहीं रह जाती, मालिक बन जाती है। कलों की इस कारण निन्दा करना कि इससे बड़े भयानक रूप की बुराई उत्पन्न हुई है, यह मतलब नहीं है कि प्रारम्भिक या मध्य युग को लौट चला जाय। यदि औद्योगिकवाद की पूजा, मुनाफों की चाह, और कीमतें बढ़ाने के उग्र आवेग से यह नतीजा निकले कि लाखों सेर कहवा जला डाला

जाय,*हजारों एकड़ कपास की खेती जुतवा डाली जाय, मनों फल बर्बाद कर दिये जायं और हजारों गायें सुखा डाली जांय तो हम इस विध्वंस-लीला को देख हाथ उठाकर "कलों के युग से त्राहि त्राहि" कर उठेंगे। आज हम उत्पादन की कम चिन्ता करते हैं, कीमतों की अधिक व्यापारिक मंदी को हम श्राप देते हैं क्योंकि उससे गल्ला सस्ता हो जाता है। किसी दूसरे समय हम ऐसी सस्ती का स्वागत किये होते। किन्तु हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें मानों हम लोगों की भूख पैसों की ही है, अन्न की नहीं।

एक अँग्रेजी मासिक पत्र शोसल आर्डर (९ जनवरी १९३८ ई०) में एक लेख में लिखा था।

---

*जून १९३३ के दो साल पहले की अवधि में ब्राज़ील में १,८५, ५५,२४,००० एक अरब ८५ करोड़ पौंड कहवा नष्ट करवा दिया गया, दुनिया की कुल आबादी १,८४,९६,०९,००० एक अरब ८४ करोड़ होने पर प्रति व्यक्ति एक पौंड पड़ा।

धन का अधिक चलन करने के स्थान पर पूँजी खाद्य पदार्थ को नष्ट करती है। १९३४ में दाम चढ़ाने के लिए दस लाख डब्बे गेहूँ को बर्बाद करवा दिया गया, उसके साथ ही २६७००० बोरा कहवा, ५६०, ००० बुशल चीनी और ५०००० किलोज चावल और इतना ही गोश्त बर्बाद किया गया।

ट्यूनिस में १३८०० एकड़ अंगूर का बगीचा उजाड़ दिया गया, और दूसरे ६९०० एकड़ बागीचा उजाड़ देने के लिये कानून पास किया गया। इसके साथ ही न्यूयार्क की 'आकंड़ों की खोज करने वाली संस्था (ब्यूरो आफ स्टेटिस्टिकल रिसर्च) के आकंड़ों से पता चलता है कि १९-३४ ई० में २४,००,००० चौबीस लाख आदमी भूखों मर गये, है कि १९३४ ई० में २४,००,००० आदमियों ने आत्मघात किया।

"हम लोगों द्वारा कलों का अथक विरोध होने पर भी कल अधिकाधिक काम करने को ही जिद करती है और हम लोगों का काम करने का घंटा कम करती जाती है, जिसका नतीजा यह होता है कि हम लोगों को विश्राम की आशा होती है किन्तु आजीवन कार्य के लिए इस दुनियां में विश्राम हम लोगों के लिए एक रुचिकर बात नहीं मालूम पड़ती।

"इंगलैंड में हाल में २०० से अधिक स्वयंसेवक संगठनों के प्रतिनिधि शिक्षा-संबंधी अधिकारी और व्यावसायिक धंधों के व्यक्ति जुटे थे, और उन्होंने अवकाश के उपयोग की समस्या की राष्ट्रीय जांच करने के लिए एक समिति बनाई। इस समिति के सभापति सर विडहमडोड्स ने बतलाया कि अवकाश "खाली" समय है जिसमें आदमी जो चाहे कर सके और औद्योगिक कीड़ा होने के स्थान पर आदमी बन सके। काम के घंटे कम थे किन्तु लाखों ऐसे थे जिनके लिए अवकाश एक मखौल की बात थी। औद्योगिक मनोविज्ञान की राष्ट्रीय संस्था के श्री कैप्टन लैकूस्ली ने कहा कि कुल आबादी के नब्बे प्रतिशत व्यक्ति अपनी मानसिक योग्यता से कम दर्जे के काम में लगे हैं। एक दूसरे व्यक्ति ने कहा कि दस प्रतिशत छोड़कर सभी व्यक्ति अपनी मानसिक शक्ति के कम दर्जे के काम में लगे हैं सोचना चाहिए कि इसका क्या अर्थ हुआ। मानों एक छठी श्रेणी के लड़के को चौथे दर्जे में बैठने के लिये बाध्य किया गया वा एक योग्य वैद्य को जीवन भर आयुर्वेद विद्यालय का एक मामूली छात्र रखना पड़ा।

"जो कोई भी व्यक्ति जीवित हो, उसे कुछ सीखना, उन्नति करना जारी रखना चाहिए। यदि वह किसी एक जगह ठमक जाता है, तो उसमें कुछ मुर्दा पड़ जाता है। "बड़े पैमाने पर उत्पादन की विधियों से कुछ समय के बाद किसी आदमी पर

यही प्रभाव पड़ता है। वे उसे मुर्दा बना देती हैं. उनकी मानसिक योग्यता बैठा देती हैं।"

कलों के दुष्परिणाम-स्वरूप नैसर्गिक मानव मेधा जड़ हो जाती है, राष्ट्र के जीवन-रक्त का संचार रुक जाता है, शरीर में व्याधि आ घेरती है, लोगों के हृदय को क्षति पहुंचती है, जिससे राष्ट्रीय नाड़ी केन्द्रीय आवेग से सुर में स्पंदित नहीं होती। इस तरह के असंगठित राष्ट्र के व्याधिग्रस्त होते और मृत होते देर नहीं लगती। भारत इसी प्रकार की करुणाजनक मृत्यु के मार्ग पर है। यह सौभाग्य की बात है कि अंतिम श्वास निकलने के पहले गांधी जी प्रायः अवतार रूप में ही इस मृत्योन्मुख संसार में अवतरित हो गए हैं, जिससे संपत्ति का पाप मिट कर सेवा का धर्म स्थापित हो, प्रतिस्पर्द्धा नष्ट होकर सहयोग भावना की स्थापना हो, घृणा का त्याग कर मानव हृदयों में प्रेम का पुनः संचार हो।

———

अध्याय ६

नाटक का छठा अङ्क-समाजवाद

प्रत्येक युग को एक नया युग कहना एक आम बात हो गई है और इसमें सबसे विचित्र बात यह है कि अनन्त काल के प्रवाह की प्रत्येक गति को ऐसे एक नये युग का प्रारम्भ बताने वाला कहा जाता है यह आशावाद की अतिशयोक्ति हो सकता है। फिर भी इस बात को मान लेने का कोई प्रतिवाद नहीं कर सकता कि कांग्रेस के जीवन में ५० वर्ष की समाप्ति को एक नए युग का प्रारम्भ होना कहा जा सकता है। इस प्रगति के साथ-साथ विचारों की प्रगति भी होती रही है आज भारत ऐसे ही नए युग के प्रारम्भ काल में है। नए और पुराने विचारों के टक्कर और दोनों के अन्दर के आदर्शों के संघर्ष से निश्चय ही एक दिखावटी विशृंखला उत्पन्न होगी जिससे एक नये लोक की उत्पत्ति होनी है।

जो व्यक्ति एक परिवर्तन की छोटी बातों पर ध्यान रखता है उसे प्रत्येक वस्तु में छः या सात बातें दिखाई पड़ती हैं। प्रश्न यह है कि भारतीय राष्ट्रीयता भी जिसका राष्ट्रीय कांग्रेस की निहाई पर पुनर्निमाण हो रहा है, अपने विकास की नई अवस्था से गुजर रही है या नहीं।

५० वर्ष पहले हम लोग सोचते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को अँग्रेजी पढ़ना चाहिये जिससे वह अपने मताधिकार का उपयोग कर सके अँग्रेजी का ज्ञान अँग्रेजी राज्य के अनिवार्य परिणाम के रूप में समझा जाता था और अँग्रेजी राज्य अमिट और चिरस्थाई माना जाता था। आज हम अपने राष्ट्र और अपनी भाषा की बात करते हैं। इस जागृत आत्म चेतना के कारण हम

अपने राजनीतिक भाग्य-निर्माण और राष्ट्रीय भाषा की पुनः परीक्षा में नहीं लग गए हैं बल्कि अपनी सांस्कृतिक अवस्था सामाजिक-आर्थिक स्थिति, अपने नागरिक नियम और नैतिक आदर्श की परीक्षा करने लग गये हैं। हम यह मानते हैं कि अपनी राष्ट्रीय परम्परा और प्रकृति की रक्षा करने के साथ ही साथ इन दोनों में एक ऐसी प्रबल धारा प्रवाहित करनी है जो समाज का रूप परिवर्तित करने और एक नई सामाजिक व्यवस्था को विकसित करने से नहीं रुक सकता जो न पश्चिमी अवस्थाओं की नकल है और न पूर्वी अवस्थाओं को फिर से प्रस्तुत करने से बनी है। सामंतशाही के पुराने आदर्शों को स्वतन्त्रता औा समानता की आधुनिक धाराओं की बाढ़ के आगे झुकना पड़ेगा। 'मर्यादा, की पुरानी भावनाओं के ठेके के नए नारों के लिए स्थान बनाना पड़ेगा जब पद-मर्यादा लुप्त होगी तो शून्य स्थल में जीवन की समाजवादी व्यवस्था उमड़ पड़ेगी।

नाटक का छटा अङ्क

जब हम कांग्रेस नाटक के विकास और कथा-वस्तुका अध्ययन करते हैं तो हमें योजना और उसकी पूर्ति में एकता दिखाई पड़ती है। जो देश विदेशी आक्रमण के प्रहार के कारण बिल्कुल असंगठित तो हो गया था और भौचक्का हो कर खड़ा था उसमें जीवन का पुनर्संचार करना पड़ा था और आत्म-चेतना की पहली झलक में उसे अपनी आंख के सामने विदेशी शासक द्वारा उत्पन्न की हुई एक नई परिस्थिति ही दिखाई पड़ी।

शासन एक ठोस सत्य बन गया था और उस वक्त जो कुछ भी किया जा सकता था वह यही कि इसके सुधार का प्रयत्न किया जाय शिकायतों की फिहरिस्त बनाई जाय और उसे दूर करने के उपाय किये जायं सामान्य अवस्था नहीं लाई जा सकती

थी और रोगी को क्षणिक इलाज करने से ही संतुष्ट किया जा सकता था वह नाटक का पहला अङ्क सुधारों का युग था।

पहिली जागृत का जोश ठंडा होने पर मस्तिष्क संतुलित होने पर लोगों ने यह अनुभव करना शुरू किया कि वे गलत रास्तों में भुलाए जा रहे हैं और उन्हें अपना विलुप्त राज्य देने के स्थान पर झरबेरियां और मालपुए दिये जा रहे हैं अतएव उन्होंने १९०६ ई० में स्वशासन की मांग पेश की जो नाटक का दूसरा अंक था किन्तु वे इसको स्वराज्य नाम से पुकारने से डरते थे, हालांकि उस साल के सभापति दादा भाई नौरोजी ने कलकत्ते कांग्रेस में इस शब्द का प्रयोग किया था, इस प्रकार नाटक का दूसरा अंक **स्वराज्य का युग** प्रारम्भ हुआ, जो अपने भाग्य-परिवर्तनों के साथ १९१७ ई० तक चलता रहा जब कि श्रीमती एनीबेसेन्ट के आगमन से एक नया दृश्य उपस्थित हुआ। उन्होंने अपने आदर्श हो "होमरूल, (देशी शासन) नाम से पुकारा फिर भी यह आन्दोलन सरकार के साथ जोरों से संघर्ष कर सका। नाटक का यह तीसरा अंक १९२१ तक चला जब कि गांधी जी मंच पर आ उपस्थित हुये और उन्होंने चौथा युग स्वराज्य का प्रारम्भ किया किन्तु स्वराज्य शब्द की लोग तरह-तरह से व्याख्या करते इसलिए १९२६ में इस बात की आवश्यकता हुई कि इसकी व्याख्या पूर्ण स्वतन्त्रता रूप में की जाय, यह पांचवां अंक था। यह हम नहीं कह सकते कि विशेषण के कारण शब्द में कितनी उन्नति हुई।

लोग स्वभावतया ही पूछ सकते हैं कि अब छठा अंक क्या होगा यह नाटक का अंतिम दृश्य होगा वा उसके पहिले का अंक। अब समय है कि राष्ट्र यह देखे कि स्वराज्य के अन्दर किस प्रकार के समाज की रचना होगी जिसमें पूर्ण स्वतन्त्रता की रक्षा हो सके।

यह यथार्थ में पूर्ण स्वराज्य होगा। उसके रूप और लक्षण क्या होंगे? वह प्रजातंत्र होगा वा धनिकों का राज्य होगा वा कुलीन वर्गों का शासन वा फैसिस्ट राज्य होगा वा समाजवादी संगठन? यदि अंतिम प्रकार का हुआ तो क्या यह आस्ट्रेलिया की तरह समाजवाद का अनुकरण होगा वा यह वस्तुस्थिति को देखकर समाजवाद का प्रचलन कर उसके अंतिम रूप बोल्शेविक-वाद का अनुसरण करेगा, यहं स्वाभाविक प्रश्न हैं जो सामने आते हैं इनका जवाब देना चाहिये।

वृद्धों की अपेक्षा नए लोग अधिक उत्सुक होते हैं। पुराने लोग अपनी कुछ सफलताओं से सन्तुष्ट हो जाते हैं और नए लोग आगे भी देखते हैं। आज के वृद्ध देशभक्त भी किसी समय युवक थे और जब उनके बुजुर्ग सुधारों की बात कर रहे थे तब वे स्वशासन का स्वप्न देख रहे थे। यह बात पीछे पड़ गई जिसने होमरूल का स्थान लिया अब उसके भी पुराने हो जाने से उसके स्थान को स्वराज्य ने ले लिया है। तथा अब स्वराज्य के अर्थ के विस्तार की भी आवश्यकता हो रही है इस तरह यदि आप कांग्रेस की तहों को उलटें-पलटें तो आप देखेंगे कि इसके ढांचे में अनेक पत्त हैं और उनमें सतत विकास हुआ है। समाजवादियों की मांग इस ढांचे की केवल सब से ऊपरी पत्त हैं।

किन्तु जब हम समाजवाद की बात करते हैं तो हमें केवल पश्चिम शब्दावली से प्रभावित न रहना चाहिए। हम लोगों ने अत्यधिक रूपों में पश्चिम की बातों की नकल की है किसी भी रूप में हम लोगों का समाजवाद वह भक्ति-प्रदर्शन नहीं होगा जो धन के अवगुण द्वारा निर्धनता के गुण को मिलता है। यह वह खूनी कीमत भी न होगी जो गरीबी अमीरी से वसूल करना चाहती है। समाजवाद को उतना ही भारतीय होना चाहिए जितना

स्वराज्य, खद्दर, राष्ट्रीय शिक्षा, धर्म की पूजा और दर्शन में विश्वास। भारतीय समाज की बनावट और उनके कार्यों की जांच पड़ताल और फिर से खोज की जानी चाहिए।

प्राचीन ने सतयुग की बात कही जब कि जायदाद और बुनियादी धन्धे जाति की समान रूप से सम्पत्ति थे और जहां लोग खरीदना बेचना, नफा व नुकसान, अमीरी व गरीबी, चीजों की भरमार व कमी जानते ही न थे। काल-चक्र ने ऐसे युग का अंत देखा और उसके बाद त्रेता तथा द्वापर आए तथा उनके बाद कलयुग का आगमन हुआ है जिनमें हम लोग पड़े हुये हैं कलयुग ने ही आज जीवन में ऊंच और नीच का वर्तमान भेद उत्पन्न किया है और ऊँचे महलों तथा टूटी झोपड़ियों का साथ साथ जन्म दिया है। समस्या यह है कि जीवन में स्त्री और पुरुषों की सुविधाओं में किस प्रकार समानता लाई जाय और सब को भोजन और वस्त्र मिलने का निश्चय हो हम अपने गांवों और उनके धन्धों का पुनरुद्धार करें तथा उनकी बिक्री का जिम्मा लें वा हम अपने गांवों को उजाड़ डालें और कस्बों की बस्तियां और धनी करें तथा बेकारों की वृद्धि करें तब मिलों को तोड़ने, जायदाद के फिर से उजाड़ने और सम्पत्ति के बटवाने की बात उठावें। हम देखते हैं कि बहुत प्रशंसित सोवियट भी व्यक्तिगत कार्य करने की प्रवृत्ति जागृत हो सके। रूस में लटकन केवल दूसरे किनारे की ओर झुक गया है और केवल शक्ति द्वारा ही वर्तमान लुढ़कती हुई अवस्था में नहीं रखा जा सकता। इसलिये हमें प्रत्येक रूप पूंजीवाद तथा उसकी स्वार्थपरता, औद्योगिकवाद और उसके भयानक परिणाम कल-कारखाने और उसके दुष्कर्म की निन्दा करनी चाहिए किन्तु हमें अपनी सभ्यता की मिट्टी भी उलटना चाहिए और उन्हीं परिवर्तनों को ग्रहण करना चाहिए जो उसी अवस्था और परम्परा के अनुकूल पड़े। समाजवादियों को पहले

ऐसे ही तिरस्कार का सामना करना पड़ा है जिस प्रकार असहयोगियों, रूस के अनुयायियों और स्वराजवादियों का सामना करना पड़ा। प्रत्येक नए सिद्धान्त को आरम्भ में आलोचना का सामना करना पड़ता है किन्तु वह शीघ्र ही अपने निन्दकों की निन्दा और बदनामी से पार हो जाता है और उसके सिद्धान्तों को सब लोगों को स्वीकार करना ही पड़ता है। यही समाजवाद की दशा होगी।

समाजवादियों ने यह बड़ी बुद्धिमानी की है कि देश में एक तीसरे दल को अपनी चालबाजी दिखाने में शह नहीं दी है। हम लोगों के आपसी झगड़े ने ही भूमि-गत, जातीय वंशीय वा सम्प्रदायिक होते आए हैं, विदेशियों को अपनी जड़ जमाने का अवसर दिया है और यह बड़ी अच्छी बात है कि शत्रुओं को अपने बीच मौजूद देखते हुए समाजवादी भारतीय सामाजिक दर्शन को झंझट में नहीं डाल रहे हैं। विदेशियों से सुलझाव कर लेने के बाद हम लोगों को सुलझाव करने का अवसर मिलेगा। किन्तु इस मध्य काम में हमें शिक्षा देते रहना चाहिए। यदि समाजवादी अहिंसा में विश्वास रक्खें तो वे समाज को ऐसे रूप में परिवर्तित कर सकेंगे जो मन्द गति का किन्तु स्थायी होगा किन्तु वे यदि हिंसा में विश्वास करेंगे तो उनके परिवर्तन शीघ्र होंगे किन्तु वे बहुत अव्यवस्थित और क्षणिक होंगे। इस बीच हम लोगों को साथ हो जाना चाहिए।

अध्याय १०

भारतीय समाजवाद की पुनः खोज

भारतीय सभ्यता की भांति भारतीय पुनरुत्थान को भी विशाल और बहुमुखी होना चाहिए। भारतीय सभ्यता संस्कृति की एक प्राचीन धारा है जिसने नागरिक नियमों और सामाजिक संगठनों की ऐसी व्यवस्था की है जो देखने में ऐसे विचित्र रूप के हैं कि यद्यपि उनके मिलने के स्थान पर एक मुख्य एकता नहीं है किन्तु बहुत से लोग आंख से दिखाई पड़ने वाली विचित्र भिन्नता को देख कर चकित रह जाते हैं और उनके मूल में व्याप्त सूक्ष्म सादृश्य को नहीं देख पाते। समाजवाद के साथ ही साथ शादी के कानूनों और उत्तराधिकार की व्यवस्था की बात चीत करना आम बात हो गई है किन्तु भारतीय सभ्यता के पुनर्जन्म में समाज शास्त्र के विद्वानों और विद्यार्थियों के सामने युगों से प्रचलित और असीम शताब्दियों से मर्यादित ऐसी बातें आती हैं जिसे ऊपरी अलोचक देख ही नहीं पाता वा देख कर भी उसे पागलपन की बात कह कर टाल देता है।

श्रद्धेय डा० भगवानदास ने, जिन्होंने अपनी विस्तृत संस्कृति और साधुस्वभाव के कारण ख्याति प्राप्त की है प्राचीन वैज्ञानिक समाजवाद की उसके आधुनिक प्रतिरूप से तुलना कर इस ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कर एक महान कार्य किया है। उन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण निबन्ध के इतिहास की भौतिक व्याख्या के आधार पर स्थित समाजवाद और उसकी आध्यात्मिक, भौतिक व्याख्या की तुलना की है। एक जो वर्ग-युद्ध उत्तेजित करता है और दूसरा जो वर्गों का सहयोग प्रतिपादित करता है, तथा फिर

एक जो समानता का समर्थन करता है और दूसरा जो अन्याय का प्रतीक है। के मध्य उन्होंने तुलना की है। दूसरे शब्दों में यह तुलना एक ओर तानाशाही और दूसरी ओर समाज में शक्ति के संतुलित विभाजन में है, जिससे व्यक्तिगत विशेषता का सामाजिक एकता से सामंजस्य स्थापित किया जा सके, तथा भूतकाल से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद और परम्पराओं को निर्दोष रखा जो भूतकाल को वर्तमान में ला उपस्थित करती है और वर्तमान को भविष्य के खींच लाने में समर्थ बनाती हैं।

प्राचीन समाज की इस व्यवस्था में धर्म, परिवार और जायदाद का लोप नहीं हुआ है बल्कि पुरोहित आर्थिक दांव-पंच, और व्यक्तिगत स्वार्थों के नियंत्रण द्वारा परिष्कृत किए गए हैं, बा० भगवान दास के लेख का यह तर्क है और वे अपने लेख में इतना अधिक ज्ञान, विद्वत्ता और बुद्धि का समावेश कर देते हैं कि इस अज्ञानी अंधविश्वास और पथ-भ्रष्ट संसार उनके वास्तविक जीवन-प्रद रूप को सिद्ध कर सकने के लिए इस संस्कृति के सागर से जल का नमूना खींच ला सकना असंभव है, फिर भी इस अनवरत स्रोत की कुछ बूंदों का स्वाद हम लेंगे, और अपने सन्देहशील मस्तिष्क को संतुष्ट करेंगे, कि हम लोगों की संस्कृत और संस्थाओं में अच्छी तरह और यथार्थ रूप में डाली हुई सामाजिक व्यवस्था की नींद है दो बड़े पैमाने पर पूरे समाज में संयुक्त परिवार का सरल आदर्श प्रयुक्त करती है, उसमें केवल थोड़ा हेर फेर किया गया है और लेखक के कथनानुसार इसमें चार संयुक्त परिवारों के साथ साथ संघ और उसमें से प्रत्येक के साथ अपने अनुविभाजक संयुक्त परिवार और आधीनस्थ विभागीय संघ की व्यवस्था की गई है जो सब संघ आध्यात्मिक वृद्धों की एक केन्द्रीय धारा सभा की देख रेख में रक्खी गई है।

भारत की समस्या यह है कि या हम इंगलैंड के समाजवाद की नकल करें जिममें योरप के देशों द्वारा कुछ सुधार हुए हैं और जो योरप और एशिया के मध्य देश रूस में पूर्ण हुआ है वा हम अपनी प्राचीन व्यवस्था के भूल की फिर से जांच करें और उसमें निहित युगों-प्राचीन सिद्धान्तों की पुनः खोज करें। जिन्होंने सब सन्तुलन के लिये भोजन और व्यवस्था का निश्चित क्रम रक्खा था और प्रतिष्ठा, प्रभुत्व, सम्पत्ति और सेवा के मध्य स्थापित किया था। पश्चिम ने परिवर्तन और उन्नति के नाम पर ऐसी परिस्थितियां पैदा की हैं जिन्होंने दोष-पूर्ण वातावरण उत्पन्न किए हैं जिनसे छुटकारा पाने के लिए न तो पश्चिम को ही मार्ग सूझता है और न पूर्व को ही। इसने विश्राम का स्थान जल्दबाजी, की सेवा का धन को, उत्तमता का अधिकता को, देश के अन्दर खपत का निर्यात को पद-मर्यादा का ठेके को और कतव्य का अधिकार को दे दिया है यहां तक कि शब्द में यह प्रतिस्पर्द्धा की देवी की पूजा करता है जब कि हम लोग सहयोग की देवी के उपासक हैं यदि इस एक मुख्य भेद को मान लिया जाय तो दोनों सभ्यताओं और दोनों सामाजिक व्यवस्थाओं का अध्ययन सुगम हो जायगा।

विषाक्त वातावरण में पड़ी हुई पाश्चात्य सभ्यता द्रुतगामी मोटरकार बनाती है और दुर्घटनाओं से बचने के लिए अलग सड़कें बनवाती है, यहां रोगियों व घायलों को ढोने वाली एम्बुलेन्स गाड़ी की व्यवस्था करती है जो स्वयं भी इतनी ही तेज चाल से चलने वाली और ऐसी ही दुर्घटनाएं उत्पन्न करने वाली होती है। यह दोनों गाड़ियाँ शोर गुल करती हैं। उनसे बचाव के लिए शहरों में "निःशब्द क्षेत्र" (साइलेंस ज़ोन) स्थापित किये जाते हैं। शहरों के कारण और गन्दी बस्ती खड़ी होती है उनसे उद्धार पाने की योजनाएं भारी खर्चे से की जाती है खर्चे को पूरा करने

के लिए कर बढ़ाये जाते हैं। बढ़े हुए कर को देने के लिये मुनाफ़ा अधिक करने की बात खड़ी होती है और एक मुनाफा तथा कर बढ़ने और दूसरी ओर कल-कारखाने तथा निर्यात की आपस में एक दूसरे के पीछे उन गीदड़ की तरह भगदड़ मचती है जो अपनी पूंछ का शिकार करने निकलता है। निर्यात के लिए उत्पादन के कारण किसी भी तरह निश्चित परिमाण में वस्तुएँ तैयार करने की बात खड़ी होती है और व्यापारिक बचत की चिन्ता के कारण आयात में कमी करने के लिए विवश होना पड़ता है। इन सब बातों का परिणाम साम्राज्यवाद होता है जो सीधे साधे शब्दों में सैनिकवाद और औद्योगिकवाद है जब सब देशों का लक्ष्य यही साम्राज्वाद हो जाता है तो वे एक दूसरे का शिकार करने के कुत्तों का झुन्ड बन जाते हैं क्योंकि पूर्व के गीदड़ों ने जो अब तक दूसरों का शिकार बनना मंजूर करते आ रहे थे जापान से लेकर मिस्र तक आत्म सम्मान का विप्लव खड़ा कर दिया है।

योरप ने यह देख लिया है कि प्रत्येक देश सन्तोषजनक व्यापारिक बचत नहीं रख सकता क्योंकि यह इसी प्रकार है कि प्रत्येक परिवार तो शादी में दहेज मांग रहा हो किन्तु कोई स्वयं दहेज देने के लिए न तैयार हो। इसका अर्थ यह है कि समाज में दूल्हे तो सभी हों परन्तु दुलहिन का कहीं पता न हो। इसी प्रकार योरप में सभी देश निर्यात करने वाले तो बनना चाहते हैं और कोई भी आयात करने वाला नहीं बनना चाहता जब कि पूर्व ने योरप के इस माल के निर्यात को लेना नामंजूर कर दिया है तो पश्चिम की आर्थिक व्यवस्था ने वहां के निर्यात करने वाले देशों को न्यूकैसिल तक कोयला ढोने को विवश कर दिया है।

पश्चिम का उद्योगवाद तराजू में तौला गया है और हलका सिद्ध हुआ है इसने केवल शहरों को खड़ा किया है जिसमें उसक

साथ की सभी बुराइयां, गन्दी बस्तियां और दिल दहलाने वाली घटनाएं, तेज दौड़ने वाली गाड़ियां, एक पल भी न रुकने वाला शोर गुल, बीमारियां और चकले, मिलें और मजदूरों का शोषण और अन्ततः धन की चाह, स्वार्थ-परता और पाप पैदा हुए हैं। नगर रचना की योजनाएं, बालचर, गर्लगाइड्स, निःशब्द क्षेत्र, अनाथालय, अस्पताल, आश्रम, वेश्याओं का रक्षागृह, मदूजरों के कानून, कारखानों के कानून, धर्म-प्रचार के संगठन और समाज-वाद यह सब उत्पन्न हुए हैं और हम भारत के लोग जान बूझ कर उन बुराइयों की नकल कर रहे हैं जो बहुत पहले ऐसी ज्ञात हो चुकी हैं।

हम इस बात को अस्वीकार नहीं करते कि धर्म, जायदाद और परिवार भारतीय समाज के आधार रूप रहे हैं इनमें से प्रत्येक ने अपनी अधोगति की है किन्तु यह हम लोगों को उचित नहीं है कि किसी व्यवस्था का अध्ययन करते समय हम उसके गिरे हुए रूप को लें।

लगभग १००० वर्ष से अधिक दिनों से अर्थात जब से कि विदेशियों का इस देशों में आगमन हुआ भारत की उन्नति रुक गई है विदेशियों के धक्के से एक नया संघर्ष उपस्थित हुआ है और ऊपर वर्णित तुलना ने वर्णनीति रूप का विनाश-कार्य किया है। हमें मनु की ओर ध्यान ले जाना चाहिये और भारतीय समाजवाद का उसके शुद्धतम रूप में अध्ययन करना चाहिये तथा वह जिन पर आधारित हो उन चिरंतन सिद्धान्तों—जिनमें कुछ व्यक्तिवाद और व्यक्तित्व का अंश भोजन, जायदाद और परिवार की प्रधान घटना के साथ अध्ययन करना चाहिये और तब हम सम-झने में समर्थ होंगे कि प्राचीन समय के लोगों ने आंतरिक शान्ति के लिये व्यवस्था की थी तथा सार्वभौमिक, सामाजिक संगठन की व्यवस्था बनाई थी, उसके साथ ही वह भी व्यवस्था की थी

जिसे हम व्यक्तिगत संगठन कहते हैं समाज केवल खड़े-खड़े समूहों में ही विभाजित नहीं है बल्कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन आड़े-आड़े आश्रमों में विभाजित हैं जिससे धन की लिप्सा सदा सेवा के आदर्श के आधीन कर दी गई है और अंतर्राष्ट्रीय शान्ति सामाजिक शान्ति से उसी प्रकार संबन्धित होती है, जिस प्रकार सामाजिक शान्ति परिवारिक और व्यक्तिगत शान्ति से संबंधित होती है। जीवन के मुख्य चार विभाग चार मुख्य संघों के अधिकार में होते हैं जो धार्मिक समर्थन पर आधारित सामाजिक-आर्थिक नियमों द्वारा नियंत्रित होते हैं। प्रत्येक विभाग के लिये पेशे, निर्वाह साधन, जीवन यापन के ढङ्ग, और जीवन के उद्देश्य निश्चित होते हैं, और सङ्घों के आधार पर बने समाज वाह्य-सत्ता के आधार पर बने समाज में जो अन्तर होता है, वह "एक ओर एक आत्मा-पोषित, आत्मा-प्रतिकार, आत्म-नवीकृत, और आत्म-प्रचारक सजीव प्राणधारी और दूसरी ओर एक मृत यंत्र के मध्य सदृश होता है जिसको दूसरे द्वारा बराबर देखने, निरन्तर कृत्रिम सफाई करने, पुर्जों में तेल लगाने, मरम्मत करने, नया करने, पुर्जे बदलने, और कोयला पानी वा पेट्रोल आदि की शक्ति पहुंचाने की आवश्यकता होती है।"

डाक्टर भगवानदास द्वारा व्याख्या किये प्राचीन समाजवाद और पश्चिम में उत्पन्न हुई अनेक व्यवस्थाओं वा प्रचलित अनेक वादों के विस्तार पूर्वक अध्ययन का सारांश यहां पर थोड़ी जगह में दे सकना संभव नहीं है। हीगेल के विचारानुसार भारत भी स्वीकार करता है कि "जनता पृथक पृथक व्यक्तियों का जमाव नहीं है जो कृत्रिम रूप से अपने पारस्परिक लाभ के लिए जान बूझ कर रजाबन्दी से संयुक्त हुए हैं, बल्कि आध्यात्मिक एकता है। जिसके लिए और जिसके द्वार प्रत्येक सदस्य का अस्तित्व होता है" इस विचार से फैसिस्ट भावना उत्पन्न मालूम पड़ती

है, जिसमें संघबद्ध राष्ट्र और व्यक्तियों के राष्ट्र के आधीन होने, भाग के पूर्ण आधीन रहने की बात है, किन्तु इसमें अति कर देने से नतीजा यह हुआ है कि "फैसिस्टवाद की सामान्य धारणा एक दृढ़ अधिनायक-शासनव्यवस्था हो गई है।" इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इस प्रकार की दृढ़ अधिनायक-व्यवस्था व्यवहृत होने पर निरंकुश नौकरशाही हो जाती है जो फैसिस्टवाद तथा साम्यवाद दोनों तथा भारत में राष्ट्रीय पूंजीवाद का भी सामान्य रूप हो जाती है किन्तु बाबू भगवानदास कहते हैं कि व्यक्तियों की यह निष्ठुर पराधीनता इस अर्द्ध शक्ति की अतिशयोक्ति है कि '**प्रत्येक सब के लिए है।**' सत्य का दूसरा अर्द्धांश भी इतना ही महत्वपूर्ण है, वह यह है कि '**सब प्रत्येक के लिए है।**' अर्थात सुत्रात्मा जीवात्मा के लिए भी है और जीवात्मा सुत्रात्मा के लिए भी। मनु ने इन दोनों को परस्पर संमिश्रित किया है। उनके व्यक्तियों के **आश्रम धर्म** और समाज के **वर्ण धर्म** ताने और बाने रूप हैं, व्यक्ति भी एक पूर्ण वस्तु है खंड नहीं।"

लेखक निर्देश करता है। कि मार्क्सवाद के सिद्धान्त के अनुसार सामंतशाही को दबा कर जमींदारों और धनिकवर्ग की मध्यवर्ग की व्यवस्था स्थापित होती है तथा मध्यवर्ग के शासक को अधिकारच्युत कर श्रमजीवी वर्ग की शसान-व्यवस्था प्रचलित होती है। वह भी अन्त में स्वयं विलुप्त हो जाती है। किन्तु भारत के विभागों से संबन्धित व्यवस्थाओं में एक दूसरे को अधिकार-च्युत करने की बात नहीं है। भारत में ऐसा नहीं कि पुरोहितशाही के बाद सामंतशाही का जन्म हो, फिर इसकी जगह पूँजीशाही का जन्म हो, फिर श्रम-जीवीशाही शासन-प्रथा-प्रचलित हो। क्योंकि भारत में सब सहायक साधनों के रूप में हैं जो केवल

परस्पर सामंजस्य स्थापन योग्य ही नहीं हैं बल्कि एक दूसरे के लिए अनिवार्य हैं । और विद्वान पुरुषों के नेतृत्व में अनेक वैज्ञानिक साधनों द्वारा जान बूझ कर और दृढ़ता पूर्वक अपने को संतुलित करने का उद्योग करती हैं जो सर्वांगत: उनके अभिप्राय को पूर्ण करते मालूम पढ़ते हैं । विदेशी आक्रमणों ने समाज पर प्राचीन व्यवस्था के प्रभुत्व को आवश्यक रूप से मिटा दिया । आप चाहे फैसिस्ट राज्य में जायँ वा सोवियट राष्ट्र में, आप को चार श्रेणी के व्यक्ति-विद्वान लोग पराक्रमी व्यक्ति, सम्पत्तिशाली व्यक्ति और सेवक लोग मिलेंगे जो राष्ट्र और वर्गों का सहयोग संगठित करते हैं ऐसे राष्ट्र केवल संगठन वाला, केवल एक व्यवस्थित शक्ति नहीं होता बल्कि राष्ट्रीय जीवन के सभी रूपों की मुख्यतम अभिव्यक्ति, राष्ट्रीयता का संयोजन होता है जिसमें चार श्रेणी के व्यक्ति होते हैं जो चार पेशेवर विभागों का प्रतिनिधित्व करते हैं वे यथोचित रूप से इस प्रकार शिक्षित संतुलित और प्रयुक्त किए जाते हैं जिसमें राष्ट्र और समाज सभ्य बने तथा अधिक से अधिक सार्वजनिक हित का निश्चय हो सके । ये चारों विभाग प्राणधारी शरीर के चार अंग हैं जो व्यक्तिगत रूपों में पृथक नहीं किए जा सकते । वे समाज के सिर, भुजा धड़ और पैर हैं । उनके बीच सनानता का प्रश्न नहीं है, बल्कि न्याय का है । यह समाज का ऐसा रूप है जिसने धन्धों के स्वार्थों का संतुलन कर वर्ग युद्ध को मिटा दिया था । विद्या और शौर्य, सम्पत्ति और श्रम जो चार वर्णों के प्रतीक हैं, एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं ।

—:०:—:०:—

अध्याय ११

दुष्ट मंडलियां और उनको तोड़ने के उपाय

पिछले अध्यायों में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि विदेशी शासन के अविछिन्न प्रभावों ने भारतीय सभ्यता की नींव और ढाँचे को ही उलट देने का उद्योग किया है हम लोगों के सामने उस आदमी का सा काम है जिस के पास ऐसा मकान हो जो भूडोल में हिल डुल गया हो और न रहने लायक ही रह गया हो बल्कि उसमें प्रवेश करना भी सम्भव न हो, बिहार के भूचाल-पीड़ित स्थानों में बहुत से ऐसे मकान देखने को मिल सकते हैं। नगरों में सड़कों पर म्युनिस्पेलिटी की किसी गड़ी हुई लालटेन में किसी शरारती लड़के के पत्थर मारने से शीशा टूटा हुआ हम देख सकते हैं एक बढ़िया लकड़ी के चौखटे द्वारा भी उन टूटे हुए टुकड़ों को मिलकर रक्खा जा सकता है। आज भारतीय सभ्यता और समाज इस टूटे हुए शीशे और चौखटे के रूप में है और राष्ट्र-निर्माता के सामने पुनर्जीवित राष्ट्रीयता के भारी मसाले से उन टुकड़ों के जोड़ने का काम है। हम लोगों की आकांक्षा इस राष्ट्रीयता को इस रूप से विकसित करने की है जिससे सर्वांगीण आत्मानुभूति उत्पन्न हो किन्तु बीसवीं शताब्दी में राष्ट्रों की प्रवृत्ति पूर्ण और स्वावलंबी होने के स्थान पर सबल होने की है। इसी कारण गांवों के लिए हानिकर रूप में नगरों की उत्पत्ति हुई है। एक विनोदी व्यक्ति ठीक कहा है कि आधुनिक सभ्यता नगरी-करण है। यह ऐसा मार्ग है जिसमें नगरों के मनोविनोद और आमोद-प्रमोद तथा सुविधाओं की वृद्धि के लिए सभी शक्तियों और धन-कोषों और बुद्धि को सोख लिया है और

गांव नगरों को जीवन त्यक्त सी की भांति हो गए हैं। उनका एक मात्र कार्य नगरोंको जीवन निर्वाह सामग्री पहुँचाना और अपने मत द्वारा नगरनिवासियों को ऊंचे पद और अधिकार पर पहुँचाना है जिसमें वे गांवों के मतदाताओं के विरुद्ध कार्य कर उनकी दासता को और मजबूत करते हैं। जो नगर अनेक प्रकार की विदेशी वस्तुओं को दरवाजे २ बेचकर और बेरोक तथा निर्वाध महसूल द्वारा गांवों की निर्वाह-सामग्री, रोजी और कारीगरी को चौपट कर देते हैं उन्हीं के प्रति गांवों की यह पराधीनता आधुनिक सभ्यता की सब से शोचनीय बात है जिससे गांधीवाद देश का छुटकारा कराना चाहता है। यूरोपीय सभ्यता ने हमारे गांवों को जहां नीच और पराधीनता स्थान प्राप्त करा दिया है वहा गांधीवाद राजनीति, अर्थनीति और नीति में और सच पूछिए तो संक्षेप में कहने पर राष्ट्रीय जीवन में गांवों को नेतृत्व प्रदान करना लक्ष्य रखता है जिस ईश्वर ने एक संघबद्ध पूर्ण बनाया है दो बिल्कुल भिन्न टुकड़ों मालिक और नौकर, स्वामी और सेवक, ऋण-दाता और ऋणी, पूंजीवाद और कुली बल्कि संक्षेपतया प्रकाश और अन्धकार में अलग अलग न बँट जाय।

पश्चिमी सभ्यता दुष्ट मंडलियों की एक लड़ी हो गई है इसका पूरा ढङ्ग बुराई पैदा करना और फिर उसका इलाज ढूंढना है। तेजी से दौड़ने वाली गाड़ियां आविष्कृत होती है और उसके बाद धूल के बादल उठते हैं तथा सदा बढ़ती रहने वाली दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। गाड़ी यूरोपीय सभ्यता का प्रतीक है जिसमें गाड़ी के प्रतिचालक चक्र (स्टयरिंग ह्वील) के पास बैठा हुआ आदमी आनन्द में रहता है उसे इस बात से क्या मतलब कि गाड़ी के पीछे के आदमी धूल में भर जायं और आगे पड़ने वाले आदमी गाड़ी के पहिये के नीचे दब जायं, धूल को दबाने के लिए कोलतार की सड़कें बनती हें इस बढ़े खर्च को पूरा करने के लिए मह-

सूल बढ़ाये जाते हैं, अतिरिक्त महसूल वसूल करने के लिये बेई-मानी पैदा होती है। यह एक मंडली है। इसी क्षेत्र में दूसरी मंडली यह है कि दुर्घटनाओं को बचाने के लिये तेज चाल की गाड़ियों के लिये अलग सड़कें बनाई जाती हैं, अलग सड़कों के कारण जमीन के नीचे या जमीन के ऊपर अलग रास्ते बनाने पड़ते हैं जिनमें ज्यादा रुपया लगता है। ज्यादा रुपया, ज्यादा महसूल, बेईमानी, ज्यादती, भूखों मारना, जुर्म और मुसीबत शराबख्वारी, ज्यादा जुर्म, जेल, फिर इस पर अधिक राष्ट्रीय व्यय और उसके लिये अधिक सार्वजनिक कर, यही सब नतीजे होते हैं तेज चाल और जल्दबाजी के लिये दूसरी दुष्ट मण्डली सड़क पर धूल का उठाना है धूल बैठाने के लिये सड़कों पर पानी का छिड़काव होता है या उन पर कोलतार पोता जाता है। कोलतार पुती सड़कों में कंकड़ की कुटी सड़क की अपेक्षा कई गुना खर्च अधिक पड़ता है। इससे फिर महसूल की बढ़ी हुई दर में इजाफा करना पड़ता है। इससे म्युनिस्पेलिटी के महसूल असह्य हो जाते हैं। यह सब दर्दनाक बातें हैं।

दूसरी दुष्ट मण्डली लीजिये। रुपया समाज में जादू की शक्ति हो गया है किन्तु सभी राष्ट्र समान नहीं हैं। इस कारण संसार में विनिमय शासन करता है। ब्रिटेन सुवर्णमान हटा देता है, विनमय उतरता है यह इतने नीचे गिर गया था कि १६३२ की फरवरी में विदेशी ऋण चुकता करने में एक करोड़ पैंतीस लाख पौंड की हानि हुई। इस प्रकार जब विनिमय उतरता है तो निर्यात बढ़ता है क्योंकि ऋण अधिक हो जाता है इसलिए विनिमय को चढ़ाया जाता है और ब्रिटेन का अमेरिका को निर्यात गिर जाता है क्योंकि अमेरिका की पौंड की कीमत के लिए डालर के रूप में अधिक दाम देना पड़ता है ब्रिटेन का निर्यात व्यापार अव्यवस्थित हो जाता है इस कारण ऋण का देना रुक जाता है।

हम तीसरी मंडली लें। सोना कागजी सिक्के की कोतल अमानत होने के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संतुलन करने के साधन के रूप में कीमत भी रखता है अमेरिका और फ्रांस सोने का संचय करते हैं क्योंकि बहुत से देश सुवर्णमान को छोड़ चुके होते हैं। वे देश अमेरिका के विदेशी व्यापार के प्रमुख प्रतिस्पर्द्धी बन जाते हैं अमेरिका का निर्यात उतर जाता है इसलिए उसे अपने आयात की कीमत सोने में चुकानी पड़ती है।

इस प्रकार सोने का संचय अपने समाप्त होने का मार्ग भी स्वयं ही खोल देता है।

दूसरी दुष्ट मण्डली विनिमय के गिराने के निर्यात के बढ़ाने के सम्बन्ध की ऐसी थी जिसे एक देश ने किया तो दूसरे देश ने भी उसकी नकल की। यदि कुछ ऊँचाई पर एक तालाब हो उसके बांध में कोई होशियार आदमी छेद कर अपने खेत में पानी पहुंचा ले और दूसरे दिन यह मालूम पड़े कि गांव के अन्य सभी व्यक्तियों ने ऐसा ही किया है तो जो तालाब साल भर काम आए होता वह एक ही हफ्ते में सूख गया होता।

इसी प्रकार बैंक का दर भी सुगम व्यवसाय के मार्ग में एक वास्तविक हौवा बन गया है। जब यह गिरता है तो धन सुलभ हो जाता है उद्योग-धन्धों की वृद्धि होती है किन्तु विदेशी वा स्थानीय साहूकारों द्वारा अमानत की रकम खतम हो जाती है। भरमार की जगह कमी पड़ जाती है और मांग को रोकने के लिए बैंक दर बढ़ता है, राष्ट्रीय ऋण चुकता करने का समय आ जाता है और बैंक दर कागजी सिक्के के नीचे उतर जाता है इसका नतीजा यह होता है कि कागजी सिक्के और अमानत को कम फीसदी दर के सूद पर फिर से चालू करना पड़ता है ऐसा करने पर बैंक दर फिर चढ़ जाता है इंगलैंड कर को बढ़ा कर अपने बजट का संतुलन करता है। कर पहले से ही एक सीमा तक

पहुंच गये हैं उनको कम करने के लिये शोर गुल मच रहा है अर्थ-मंत्री के लिए उसे कम करना जरूरी है किन्तु वह नहीं जानता कि बजट किस तरह संतुलन किया जाय।

आयात-निर्यात कर के सम्बन्ध में एक बात देखनी है। अपने उद्योग-धन्धों की रक्षा के लिये हम कर की वृद्धि करते हैं किन्तु उधर साम्राज्य के लिए विशेष सुविधा के नियम से भी बद्ध हैं और ओटावा का समझौता भी करते हैं।

इंगलैंड अपनी जरूरत का गेहूँ उपनिवेशों से खरीदना चाहता है। रूस सरीखे अन्य देश अब तक इंगलैंड को गेहूँ देते थे वे अब इङ्गलैंड के हाथ अपनी उपज नहीं बेच सकते, इस कारण जहां पहले गेहूँ बेच कर वे उस कीमत में ही इङ्गलैंड से ही कलें खरीदते थे वहां उनके अनाज की कीमत गिर जाती है और उनकी क्रय-शक्ति भी घट जाती है इस कारण साम्राज्य-गत विशेष सुविधा के नियम के कारण ब्रिटेन के निर्यात में कमी होती है इङ्गलैंड दो करोड़ तीस लाख पौंड का मक्खन साम्राज्य के अन्दर से ही मँगाता और दो करोड़ चालीस लाख का मक्खन अन्य देशों से मँगाता है (सब मिला कर सत्तर करोड़ रुपये का मक्खन लिया जाता है) यदि वह बेल्जियम और हालैंड से मक्खन नहीं खरीद सकता तो उनके हाथ वह अपना तैयार माल भी नहीं बेच सकता। इस कारण उनके निर्यात व्यापार को धक्का लगाता है इस प्रकार चाहे व्यक्तियों की क्रय-शक्ति देशों की उपज या उपजों की कम कीमत के कारण घटे वा देशों की क्रय-शक्ति विदेशों से अदला बदली न हो सकने से घटे और सोने तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अभाव अन्त में विश्लेषण किए जाने पर चीजों की अदला बदला ही है, नतीजा अनिवार्य रूप से यही होता है कि जितने ही अधिक रास्ते निकाले जायँ उतनी ही

अधिक असफलता होती है प्रत्येक इलाज रोग को खराब ही कर रहा है क्योंकि कार्य और कारण एक दुष्ट मण्डली में होते हैं।

युद्ध आधुनिक और औद्योगिक परिस्थितियों से उत्पन्न परिस्थितियों को और भी पेचीदी बनाते हैं औद्योगिक परिस्थितियां स्वयं ही अधिक पेचीदी हो गई हैं। ब्रिटेन द्वारा चुकता किया जाने वाला संयुक्त देश अमेरिका का युद्ध ऋण से दो अरब अट्ठाइस करोड़ बीस लाख पौंड था जो बासठ वर्षों में चुकाया जाने वाला था. जरमनी द्वारा दी जाने वाली क्षति पूर्ति की रकम ६५७५०००८० पौंड थी जो ५८ वर्षमें चुकती की जाने वाली थी। जर्मनी ने कुछ दिनों तक चीजों के रूप में अपने देन को इङ्गलैंड और फ्रांस को चुकाया। और जहां फ्रांस ने इङ्गलैंड से मँगाए जाने वाले कल-पुर्जों को लेना बन्द कर दिया था, वहां इङ्गलैंड को भी चीजें विदेशों से मिल रही थीं, इस कारण उसको अपने कारखाने खोले रहने की आवश्यकता न थी। इस कारण विजयी देशों में बेकारी का बोल-बाला हो गया था, और विजित जर्मनी के कारखाने दिन रात चल रहे थे। इस तरह विजित जर्मनी ने विजेता इङ्गलैंड और फ्रांस को फंसा लिया था, और इङ्गलैंड में बेकारी की संख्या एक करोड़ दस लाख तक पहुंच गई जर्मनी में बेकारी का नाम न था। किन्तु जर्मनी को कारखानों को चलाने के लिये पूँजी कहां से मिलती थी? उसके साहुओं को ही यह पूँजी देनी पड़ती थी, नहीं तो कारखाने बन्द रहते, क्योंकि जर्मनी के पास आदमी तो थे, किन्तु उनकी जेबों में एक भी पैसा नहीं था। इङ्गलैंड और फ्रांस खूब खुल कर अमेरिका से ऋण ले रहे थे और उसे जर्मनी को आगाऊ रूप में दे रहे थे। इसके कुछ बाद हिटलर का उदय हुआ। जर्मनी ने फ्रांस और इङ्गलैंड को क्षति-पूर्ति की रकम चुकाना बन्द कर दिया, इसके बदले में फ्रांस ने अमेरिका की किश्ती रोक ली। नतीजा यह हुआ कि अमेरिका

ने अपने ही ऊपर अपनी जनता का दो अरब पौंड का ऋण लदा पाया।

ये घटनाएँ और पूर्व में पश्चिमी देशों द्वारा मंडियों के खोये जाने के सम्बन्ध की घटनाएँ स्पष्ट रूप से सिद्ध करती हैं कि शोषण का युग चला गया, फिर कभी न लौटने के लिये चला गया। पूर्व के सिर जीवन व्यतीत करने के पश्चिमी देश के परोपजीवी जीवन का अन्त आ पहुंचा है। पश्चिम के देश में आपस में गुट्ट बना कर अपना संहार करने के लिए एक दूसरे के साथ कट मर रहे हैं। भारत शान्ति पूर्वक अपनी राष्ट्रीय इमारत की पुनर्रचना कर रहा है और प्रसन्नता के साथ न तो गगन-चुम्बी महलों की आवश्यकता होगी न टूटे झोपड़ों की।

इस परिणाम पर पहुँचने के लिये हमें न तो सामाजिक ठेके का अनुसरण करना चाहिये जिसने बहुमत का शासन प्रचारित किया, ऐसा बहुमत जो हाथ उठाने भर का हो, दिमाग, वा दिल से उसे कोई मतलब न हो. और न मानव-परिवार के श्रेणियों और वर्गों के विभागों के संघर्ष की दी गई कानूनी मर्यादा का अनुसरण करना चाहिये। दो शताब्दियों के खंडहर के साथ उसे साम्राज्यवाद वा शोषण की आवश्यकता नहीं है उसकी सभ्यता स्वावलम्बी और आत्म निर्भर होगी। अतिशय विषमता सदा ही मानवता के सर्वोच्च आदर्शों के विरुद्ध होती हैं। वह एक ओर दानवाकार द्रुमराज और दूसरी ओर नन्हीं नन्हीं वनस्पतियाँ खड़ी करना नहीं देख सकती। हम इस करुणाजनक प्रस्ताव का समर्थन नहीं कर सकते।

"विचार इसलिये ठीक है कि उसके अनुयायी अनेक हैं, उनके जीवन या आचार का आदर्श चाहे जो हो।" "मानव-आत्मा का संचित अनुभव कि भलाई और सच्चाई स्वतंत्र वस्तुयें हैं, चाहे जितनी संख्या के व्यक्ति इनको ग्रहण करें वा विशेषता प्रदान

करें, उनकी संख्या का इन पर प्रभाव नहीं' हमें अङ्गीकार करना पड़ेगा और इसे गौरव प्रदान करना पड़ेगा। यह बात नहीं है कि हम प्रजातन्त्र को हीन बतलाते हैं वा उस पर संदेह करते हैं, बल्कि प्रजातन्त्र स्वयं अपने असली रूप का खोटा रूप बन गया है। वह पूँजीवादियों, धनिक वर्ग और साहसी व्यक्तियों के स्वार्थ पूर्ण छल-छद्मों को छिपाने के लिये एक प्रकार का मौखिक पर्दा बन गया है। इस हद तक इसका परिष्कार होना चाहिये और इसका परिष्कार सत्य और अहिंसा के प्रयोग द्वारा निरंतर ध्यान रखने से ही हो सकता है। ऐसी सावधानी के रहने पर लोग एक झूठे बचाव में फंसा दिये जायेंगे जो मधुर किन्तु निद्रालु शब्द प्रजातंत्र से उत्पन्न होता है। हम लोगों को अपने पड़ोसियों के प्रति कर्तव्य पालन के लिये प्रेरित करते रहेंगे और उन्हें सत्य तथा अहिंसा का मार्ग दिखायेंगे, मनुष्यों को केवल अधिकार ही नहीं बतायेंगे बल्कि उन्हें उनका कर्तव्य भी समझाते रहेंगे, जीवन की नई योजना में अधिकार और कर्तव्य एक तथा अविभाज्य हो जायेंगे जिससे भेड़ और भेड़िया एक ही तालाब में पानी पी सकेंगे, और बाज तथा पंडुक एक एक ही घोंसले में निवास करेंगे।

— :o: —

अध्याय ११

रचनात्मक कार्यों को व्यवस्था

तीन कड़ियाँ जिन पर गाँधी जी ने स्वाधीनता की इमारत खड़ी की है।

कांग्रेस अनेक अवस्थाओं को पार कर चुकी है पीछे की पीढ़ी के लिये अपने पूर्ववर्तियों द्वारा उपयुक्त साधनों को तुच्छ बतलाना आसान होता है फिर भी इसे मानना ही पड़ेगा कि पाश्चात्वर्ती काल की खोजें उन धारणाओं और विचारों का विकास ही होती है जो किसी आन्दोलन के इतिहास के पूर्ववर्ती दशकों में अंकित हुए रहते हैं। कांग्रेस की उल्लेखनीय और गौरव पूर्ण विजय बिशेष कर भारत की दृष्टि में वह है जो सदा मानवता के लिए एक उदाहरण रूप ज्राज्वज्वमान रहेगी और जिसे भारतीय क्षेत्र के राष्ट्रीय विवादों का निपटारा करने में हिंसा के ऊपर अहिंसा की बिजय कहा जा सकता है। भारत रूप में एक प्राचीन काल का प्रसिद्ध प्रबल पूर्वीय देश एक नन्हें आधुनिक टापू के विरुद्ध खड़ा है जिसने अपने बाहु-बल, अपनी साहसिक भावना, अपनी कूट-नीति और परिस्थितियों के भौगोलिक दबाव तथा ऐतिहासिक बल जीवन के लिये निरे संघर्ष द्वारा एक साम्राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली है जिसमें कहा गया है कि सूर्य कभी नहीं डूबता किन्तु परिहास में यह भी कहा गया है कि ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य कभी नहीं डूबता उसका कारण यह है कि सूर्य अपनी विस्तृत महाज्योति द्वारा संसार के अनेक भागों में अंग्रेजों के ऊपर दृष्टि रखना चाहता है। ब्रिटेन और भारत

के बीच ऐतिहासिक संघर्ष में भारतीयों ने विजय प्राप्त की है जो नैतिक राजनीतिक और आर्थिक सब एक ही में है वस्तुतः भारत में पहले-पहल राजनीतिक तथा अर्थ-शास्त्र और नीति के मध्यान्तर को मिटा दिया है और स्वयं जीवन एक दैवी सत्ता का बहुमुखी प्रदर्शन बन गया है और यह अनेक विभाग उस बहुमुखी जीवन के अनेक मुख हैं।

मनुष्य का प्रेम

भारत में यह अलौकिक घटना किस प्रकार घटित हुई ? इस प्राचीन देश को अपनी पराधीनता और दासता के मध्य ही यह सफलता दिखाने का श्रेय किन लोगों के उद्योग को है ? यह किस प्रकार हुआ है कि राजनीति उन्नीसवीं शताब्दी के भेद दर्जे से उठाकर धर्म और नीति शास्त्र के दर्जे तक पहुंचा दी गई है ? इस प्रश्न का उत्तर महात्मा गांधी के सत्य और अहिंसा के नये सिद्धान्त के पक्षपाती भारतीय द्वारा नहीं दिया गया था बल्कि बहुत दिन पहले एक पाश्चात्य देशवासी प्रोफेसर गिलबर्ट मुरे ने निम्नांकित शब्दों में इसका उत्तर दिया 'ऐसे आदमी के साथ व्यवहार करने में सावधान रहो जो ऐन्द्रिक वासनाओं, अपने सुख, प्रशंसा व उन्नति की तनिक भी परवाह नहीं करता बल्कि सिर्फ वही करने को तुला रहता है जिसे वह ठीक होने का विश्वास करता है। वह एक भयानक और दुर्धर्ष शत्रु है क्योंकि उसके शरीर पर तो तुम सदा विजय पा सकते हो किन्तु उससे तुमको उसकी आत्मा पर विजय नहीं मिलती।"

शारीरिक यातनाओं के अनेक क्रमों द्वारा शरीर के ऊपर आत्मा का प्रभुत्व स्थापित करने से ही गांधी जी ने भारत में इस सिद्धान्त के प्रचार करने और देश बिस्तृत राजनैतिक जीवन में संचारित करने में सफलता प्राप्त की है, देश-भक्ति को उसके

अवगुण उससे पृथक कर विशुद्ध बना कर देश-प्रेम रूप में बना दिया गया है, स्वयं भारतीय राष्ट्रीयता को ही विश्व-बन्धुत्व के महान आदर्श के अनुरूप कर दिया गया है, कोई भी मानव-समस्या धर्म व नीति के क्षेत्र से बाहर नहीं मानी जा सकती, नाम उसका चाहे जो दिया जाय, क्योंकि वे दिन बीत चुके हैं जब कि धर्म को मतों का जाल और केवल आराधना के ढङ्ग रूप में माना जाता था। क्योंकि प्रत्येक धर्म के मूल में सभी पुरुषों की सेवा के लिए त्याग और उत्सर्ग की भावना सन्निविष्ट रहती है, केवल वही सभी धर्मों को पवित्र बनाती है। राजनीति के धर्म के लिए तो यह बात और भी है।

सत्य और अहिंसा

इस प्रकार जहाँ पहले शासन-संबन्धी और राजनैतिक टाल-मटोल और दावों का रोना ही कांग्रेस का सिद्धांत था, वह अब परिवर्तित होकर शान्ति-पूर्ण और अवैध साधनों से प्राप्त किए जाने वाले स्वराज्य के लिए भारत की मांग की स्पष्ट घोषणा हो गई है, गांधी जी ने "सत्य पूर्ण और अहिंसात्मक" शब्द जोड़ देने का प्रयत्न किया है, क्योंकि उनके लिये "शान्ति" का अर्थ 'अहिंसा, और वैधता' का अर्थ 'सत्यता है' असत्य को सत्य के ऊपर सस्ती और जल्दी विजय मिल जाती है और श्रीमती एनी-बीसेन्ट के कथनानुसार "एक झूठ सच्चाई से छः महीने पहले पहुंचा रहता है" जिस देश में ३५ करोड़ व्यक्ति रहते हैं और अनेक प्रकार की सभ्यताएँ वा संस्कृतियां हैं, वा यह भी हों तो, उसे अधिकार और कर्तव्य की भावनाओं से जागृत कर सकना संभव न होता, यदि उसकी सारी जनता में सत्य और अहिंसा की नई लहर का संचार न कर दिया गया होता। इसलिये कांग्रेस को जो सफलता मिली है, उसे राजनीतिक सफलता के माप-दण्ड से नहीं तौलना चाहिए बल्कि दुर्बोध और स्पष्ट

निर्णय शक्ति के माप से नापना चाहिये केवल जिसके ही द्वारा हम किसी सम्पूर्ण देश की दासता की भावना और उतना ही अपनी मुक्ति की शीघ्रता की भावना के निश्चय को माप सकते हैं। कांग्रेस ने इस दासता से मुक्ति पाने के लिए भूतकाल में अनेक प्रकार के उद्योग किए थे। एक सुधारों का युग था, विरोध प्रदर्शन का भी समय था, फिर होम रूल का भी जमाना दिखाई पड़ा, उपनिवेशों के ढङ्ग पर स्वशासन स्थापित करने का आन्दोलन भी दिखाई पड़ा, यदि संभव हो तो साम्राज्य के अन्तर्गत और आवश्यक हो तो साम्राज्य के बाहर स्वराज्य और अन्त में पूर्ण स्वतन्त्रता व पूर्ण स्वराज्य के आन्दोलन का समय आया। जिस समय योरप में साम्राज्य विध्वंस हो रहे हों, राजा बध किये जाते हों, जहां राजनीति केवल दृष्टि-कोण में ही कलहमय नहीं हो गई हो बल्कि भाव में कड़वी हो रही हो. ऐसे समय में पूर्ण स्वराज्य उद्देश्य रखने की घोषणा करने के लिए केवल वाक पटुता और एक राजनीतिक की युद्धकला की ही आवश्यकता न थी, बल्कि आदर्श और चरित्र की अदम्य पवित्रता को आवश्यकता थी जिसे वैसे ही एक महात्मा, दार्शनिक और पूर्ण उन्नत पुरुष ने प्राप्त और व्यवहृत किया हो।

अहिंसा के सिद्धान्त की खूबी संसार के अन्य देशों को समझना है और भारत में बहुसंख्यक जनता द्वारा आचारित होना है जो पश्चिमी सभ्यता और राजनीति के पश्चिमी आदर्शों के प्रभाव से आ गये हैं। और यह सिद्धान्त नितान्त रूप से मनुष्य की स्वाभाविक उत्तमता पर आधारित है जिसके बिना संसार का कुशल प्रत्येक क्षण और प्रत्येक घड़ी खतरे में है। इसलिये इसका अंगीकार किया जाना और लोक-प्रिय होना इस निर्विवाद रूप पर निर्भर करता है कि इस संसार में मनुष्य का कर्तव्य शत्रु को विजय करना नहीं है, बल्कि उसे अपने मत का बना

लेना है। यह इस बड़े सत्य पर भी निर्भर करता है कि इस संसार में कर्तव्य का उतना ही स्थान है जितना अधिकार का। अधिकार की धारणा संभव नहीं हो सकती जो एक ही समय अपने में ही अनुमानित होने योग्य कर्तव्य की भावना भी नहीं रखती। जब एक बार लोग यह मान लें कि अधिकार के साथ साथ कर्तव्य भी होता है तो जिसे कर्तव्य माना जाता है वह वास्तव में अपने दृष्टिकोण से देखने पर अपने पड़ोसी का अधिकार मालूम पड़ेगा। इस आवश्यक सिद्धान्त पर आधारित होकर भारतीय स्वराज्य के दर्शन की पुनर्रचना की गई है जिससे यह परिणाम अनिवार्य हो गया है कि पूर्ण स्वराज्य की मांग करते हुए हम एक राष्ट्र के प्रति दूसरे राष्ट्र की दासता को उखाड़ फेंक रहे हैं, जिसका फिर यह अर्थ है कि प्रत्येक पुरुष या स्त्री को अपने पड़ोसी पुरुष या स्त्री के प्रति अपनी दासता को उखाड़ फेंकना चाहिये। जब व्यक्ति अपना जुआ फेंकेंगे, गांव वाले भी अपना जुआ फेंकेंगे और इस प्रकार प्रत्येक गांव स्वावलंबी और समाज कहे जाने वाले व्यक्तियों के समूहों के लिए निश्चित स्वाधीनता युक्त बन जायगा।

आधुनिक राजनीति का परिष्कार

समाज तुरन्त भय और लालच के दो भारी दैत्यों से मुक्त हो जाता है, जो संसार के सब अवगुणों के जनक हैं। आदमी को उस समय भय घेर लेता है जब उसकी आकांक्षायें पूरी नहीं होतीं। और जब मनुष्य अपने पड़ोसियों से भय खाता है तभी वह लालची बन जाता है। इस प्रकार लालच से भय उत्पन्न होता है और भय से लालच। जब दोनों मिटा दिये जाते हैं तब मनुष्य को यह अनुभव करने का अवसर मिलता है कि उसके पड़ोसी की भलाई उसकी ही भलाई है, पड़ोसी की तन्दुरुस्ती से उसकी तन्दुरुस्ती बनती है, पड़ोसी के सुख से उसका कुशल

होता है और मनुष्य एक दूसरे से पृथक स्वतन्त्र नहीं है, बल्कि वे एक दूसरे पर आश्रित हैं, तब ऐसा होगा कि पारस्परिक हित और हिन्दुओं की नित्य की पुरानी प्रार्थना कि सारा संसार शान्तिमय और सुखी रहे, सत्याग्रह को समझने के लिये कुंजी बन जायेंगे। इसी कारण कांग्रेस ने अहिंसा की भावना से ग्राम-उद्योगों और कारीगरियों के पुनरुत्थान, स्वावलम्बी ग्राम-जीवन की पुनर्स्थापना और हम लोगों की आधुनिक राजनीति के परिष्कार के लिये जोर दिया है।

इस प्रकार गांधी जी ने भारत को आर्थिक, सामाजिक और नैतिक तीनों क्षेत्रों में एक साथ ही पूर्व काल के पद पर पहुँचने का प्रयत्न किया है। कुछ दिनों तक आन्दोलन चलने के बाद खद्दर भारतीय स्वराज्य का केन्द्रवर्ती सिद्धान्त बन गया, अब खद्दर एक विद्रोहात्मक संस्था का चिन्ह नहीं रह गया, बल्कि पुनर्जन्म होती हुई राष्ट्रीयता की मुहर हो गया है। इस परिणाम तक पहुचने के लिए गांधी जी ने कितने अनशन किये हैं। किन्तु जिस दूसरे सुधार के लिये गांधी जी ने अपना जीवन अर्पित कर देना चाहा और आमरण अनशन करने की घोषणा की वह अस्पृश्यता का निवारण है। अपने जीवन में इन दो विस्मय-जनक कार्यों को कर गांधी जी के सामने तीसरा सुधार मद्य-निषेध का है इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में खद्दर, सामाजिक क्षेत्र में अस्पृश्यता निवारण और नैतिक क्षेत्र में मद्य-निषेध ये तीन कड़ियाँ हैं जिन पर अहिंसा के इस शिल्पकार ने स्वराज्य का भवन खड़ा किया है।

अहिंसा की कलानिपुणता

बहुत से लोग कहते हैं कि साधारण लोगों के व्यवहार के लिए अहिंसा की कलानिपुणता बड़ी दुष्कर है। हमें इस प्रश्न का उत्तर देना है। धर्म की कलानिपुणता और ईश्वर के अस्तित्व

का प्रमाण साधारण व्यक्तियों की बुद्धि में आने के लिए बहुत दुष्कर है, फिर भी वे सभी लोगों के लिए स्फूर्ति और प्रेरणा उत्पन्न करने के प्रबल साधन हैं जो इस संसार में अपने विविध कर्तव्यों का पालन केवल सुव्यवस्था की भावना से नहीं, बल्कि बन्धुत्व की भावना से भी करते हैं। जब बुनियादी सिद्धान्त समझ लिया जाय तो सत्याग्रह सरल मार्ग हो जाता है। निदान जिन सिद्धान्तों पर भूत कालों में सभी धर्मों की स्थापना की गई थी, वे नितांत सरल थे, फिर भी उनके चतुर्दिक अत्यधिक जटिल दर्शनों का जन्म दिया गया किन्तु दर्शनों की जटिलता ने सिद्धान्तों की सरलता को सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन और उस पर आधारित धर्मों की विजय के जीवन में व्याप्त होने से नहीं रोका।

हम लोगों ने अपने समय में ही देखा है कि किस प्रकार सत्याग्रह के भद्दे प्रारम्भ ने पहले निष्क्रिय प्रतिरोध का रूप धारण किया, जो एक गर्व और कड़ुवाहट का आन्दोलन था, वह कुछ घृणा और हिंसा तथा शायद प्रतिकार की भावना से भी बचा नहीं था, किन्तु यह शीघ्र सविनय अवज्ञा रूप में विकसित हुआ और गांधी जी को लोगों को यह समझाने में बड़ा प्रयत्न करना पड़ा कि आन्दोलन के इस पहलू का यथार्थ प्रेरक सिद्धान्त अहिंसा है लोगों ने जब यह अनुभव किया कि विशेषण भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितनी संज्ञा, तब सत्याग्रह का संचालन किया गया। अतएव अहिंसा केवल निषेधात्मक बात ही नहीं रह गई बल्कि एक निश्चित शक्ति बनी जिसने अपने को उसमें प्रेम प्रदर्शित किया "जो दूसरों को नहीं जलाता, बल्कि स्वयं जल कर भस्म हो जाता है।'

सत्याग्रह उत्पत्ति और दृष्टिकोण में नितान्त रूप से भारतीय है। समय समय पर प्राचीन ऋषियों के सत्य और अहिंसा से चिपके रहने और राजाओं तथा योद्धाओं द्वारा प्रचंड किए गए अपने प्रति प्रहारों का शमन करने के लिए सरल मार्गों को निकाला

था । इस को प्रबल अस्त्र रूप में व्यवहार करने के लिए केवल इतनी ही आवश्यकता है कि सत्याग्रही अपने को निश्चित रूप से सत्य का पुजारी समझे और इस कारण मनुष्य, सरकार, समाज निर्धनता और मृत्यु का भय बिल्कुल छोड़ दे । ऐसी साधना की सहायता से ही आत्म-त्याग और विनम्रता की सच्ची भावना उत्पन्न होती है और इन दोनों से उसके अनुयायी में साहस का संचार होता है और जो राजनीति इन नए सिद्धान्त से प्रतिपादित की जायगी, वह तुरन्त परिष्कृत और आध्यात्मिक भावना पूर्ण हो जायगी, इसी कारण वर्षों की कैद के बाद ककोरी के कैदियों और ऐंडमन के बन्दियों में सबने अपने आतंकवादी सिद्धान्तों को छोड़ कर अहिंसा के बल को अंगीकार करने की तुरन्त घोषणा की। एक नया युग प्रारम्भ हो गया है—जो केवल भारत के लिए ही नहीं है, बल्कि सारे संसार के लिए है और यह हम लोगों की आशा है कि युद्धों के बीच हम अपने ही समय में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को घृणा और युद्ध के स्थान पर प्रेम और शान्ति के निर्णय द्वारा निर्णीत होते देखेंगे ।

लुप्तप्राय ग्रामधन्धों की पुनर्स्थापना

हमें इस सिद्धान्त की बातों को बताने की आवश्यकता नहीं जिन पर ग्राम-उद्योगों और उनमें सर्वश्रेष्ठ खद्दर द्वारा राष्ट्रीय जीवन के पुनर्निर्माण की संयोजना और सञ्चालन पिछले वर्षों में किया गया है । फिर भी लोग इस मामूली बात को नहीं जानते कि किसी समय केवल हाथ से काते और हाथ से बुने कपड़े से इस देश की सारी आवश्यकतायें पूरी होती थीं, वे यह अनुभव नहीं करते कि ईस्ट इन्डिया कम्पनी का इस देश में आगमन इस देश के समुद्रतटीय नगरों में बुने कपड़ों को संग्रह करने के लिए हुआ था जहां कम्पनी की कोठियां बनी थीं जिसका अर्थ गोदाम

का भंडार होता है। उस समय इंजिन या कारखाने नहीं थे। १६३२ ई० तक भाप का इंजिन आविष्कृत नहीं हुआ था। उन कोठियों में कपड़े जुटा कर रक्खे जाते और बेच कर लाभ उठाने के लिए विलायत भेजे जाते थे। उन्हें इस देश से ले गए कपड़े जहां पहले इङ्गलैंड के धनिक घरों में फर्श पर बिछाये जाते थे महारानियों की लज्जा ढकने लगे। जिन व्यापारिक कम्पनियों के कारण इङ्गलैंड के माल की कीमत बहुत घट गई उनका लोग मखौल उड़ाते थे, किन्तु बाद में मुर्शिदाबाद के रेशम ने अँग्रेजी समाज में घर किया और इङ्गलैंड के बड़े-बड़े सरदारों और अमीरों ने रेशमी पहनावा पहनना आरम्भ किया।

भारतीय माल की बिक्री पर दंड

यह बहुत प्रसिद्ध बात है कि सन् १७०० ई० में प्रत्येक अंग्रेज को भारतीय रेशम पहनने पर ५ पौंड जुरमाना किए जाने का कानून पास हुआ था। १७२५ ई० से एक कानून बना कि भारतीय रेशम बेचने वाले प्रत्येक अँग्रेज पर २५ पौंड जुर्माना होगा। इतना ही नहीं इङ्गलैंड में लोग और भी आगे गये, और यह कानून पास किया कि जो कोई इङ्गलैंड में ऊन के अतिरिक्त किसी दूसरी चीज का कफ़न मुर्दे के ऊपर रक्खेगा उस पर ५ पौंड जुर्माना होगा। उन्होंने इङ्गलैंड में भारत के रेशम के आयात का प्रतिकार करने के लिये आयात-निर्यात कर निर्धारित किया।

इस प्रकार उन्होंने विदेशी कपड़े की बाढ़ से अपने देश की रक्षा की। इसी समय भाप के इंजिन का आविष्कार हुआ और सूत कातने तथा बुनने की कलों में इंजिन का इस्तेमाल हुआ। उसका परिणाम सरकार की आयात-निर्यात-कर नीति की अपेक्षा बहुत ही अधिक प्रभावशाली और विस्मयजनक हुआ।

इङ्गलैंड में सूती कपड़े का उत्पादन बहुत अधिक होने लगा

क्योंकि कलें गजों में कपड़े नहीं तैयार करतीं, बल्कि गांठ की गांठ तैयार करती हैं। वे विकराल दैत्य हैं जिनके भोजन के लिये तोला रत्ती वा सेर पाव में जरूरत नहीं पड़ती बल्कि सैकड़ों हजारों मन की आवश्यकता होती है इसलिये पहले-पहल भारत में कपड़ा आना प्रारम्भ हुआ। जहां १८०३ ई० में केवल ३ लाख का कपड़ा आया वहां १८२६ ई० में २६ लाख का और १६२६ में ६६ करोड़ रुपये का कपड़ा और ६ करोड़ रुपये का सूत आया। इस प्रकार भारत लंकाशायर की एक अच्छी मंडी बना। और ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत में कानून और व्यवस्था भू-कर की व्यवस्था वा विश्वविद्यालय की शिक्षा-पद्धति वा कचहरियों, कालेजों, और धारा-सभाओं वा विहित स्वार्थों युक्त कुलीन वर्गों द्वारा साम्राज्य की स्थापना नहीं की, बल्कि लंकाशायर तथा यांत्रिक बल द्वारा चालित करघों द्वारा की।

भारत की व्यापारिक अपहरण

इङ्गलैंड द्वारा भारत का अपहरण अनेक प्रकार है, केवल भूमिगत, सांस्कृति और व्यापारिक ही नहीं है। कदाचित व्यापारिक अपहरण इङ्गलैंड के लिये सब से बड़ा लाभ है क्योंकि इङ्गलैंड में लोगों को अपने देश की सीमा के अन्दर की उपज से केवल ५ सप्ताह के लिये ही भोजन मिल सकता है, बाकी ४७ सप्ताह के लिये देश के भोजन की सामग्री बाहर से मँगानी पड़ती है। इसके लिये उन्हें दाम देने की आवश्यकता है इसके और सोने चांदी रूप में असीम काल तक मूल्य चुकाते जाना एक असम्भव बात है इस कारण वे चीजों रूप में ही देते हैं। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बड़े पैमाने पर चीजों की अदला बदली ही है, जिसमें माल की कीमत माल द्वारा ही चुकाई जाती है अर्थात् जिसमें निर्यात आयात की कीमत चुकाता है। इस

प्रकार यह केवल इङ्गलैंड के लाभ की ही बात नहीं है बल्कि मुख्य आवश्यकता है कि वह भारत द्वारा विलायती माल खरीद करावे। अन्यथा उसे भूखों मरने की नौबत आवेगी क्योंकि खाद्य सामग्री विलायत में आयात न की जा सकेगी। इङ्गलैंड द्वारा भारत व्यापारिक उपहरण का यही रहस्य है।

इस बात का अनुभव हम लोगों ने एक प्रकार से १९०५ ई० में किया जब बंग-भंग के विरोध-प्रदर्शन रूप में हम लोगों ने स्वदेशी वस्तुयें खरीदने का निश्चय किया। उस समय केवल इन्हीं चीजों पर ध्यान दिया गया था—कपड़ा, साबुन, मोमबत्ती और कलई के बर्तन। बाद में जब बहिष्कार-आन्दोलन जोरों पर हुआ तो नर्म दल के नेताओं ने लोगों का जोश ठंडा करने के लिये बहिष्कार के स्थान पर स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का प्रचार करना प्रारम्भ किया। यह १९०८ में श्री गोखले की स्थिति थी। उस समय भी लोगों को स्वदेशी के लिये त्याग करने को कहा जाता था, क्योंकि सरकार इन उद्योगों की सहायता नहीं कर सकती थी। और लोगों द्वारा त्याग करने की बात इसमें कही जा रही थी कि वे मँहगे दाम पर भी घटिया कपड़ा, ज्यादा दाम देकर भी मोटे कपड़े पहनें।

अतएव कपड़े को गैरसरकारी राष्ट्रीय सहायता देने का यह सिद्धान्त कांग्रेस के नम्रदल के प्रस्ताव में भी था जिस पर उनका प्रभुत्व १९०८ से १९१५ तक रहा, होम रूल आन्दोलन में भी स्वदेशी का ही आन्दोलन था। किन्तु जब गांधी जी सामने आये तो स्वदेशी का आन्दोलन अधिक व्यवस्थित हुआ और उसके लिए अधिक त्याग की मांग की गई, लोगों को केवल हाथ से बुने कपड़ों को ही इस्तेमाल करने को नहीं कहा गया, जैसा बंग-भंग के समय और होमरूल आन्दोलन के समय होता था बल्कि हाथ से कते और हाथ से बने कपड़े पहनने की

मांग रक्खी गई, सरकार भी भारत के हाथ के करघे से बुनने वाले जुलाहों को सहायता करने की आवश्यकता से असावधान कभी नहीं रही है और पिछले दिनों में हाथ की बुनाई के धन्धे को सहायता देने और दृढ़ करने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा १५ लाख रुपया सालाना की अच्छी रकम दी गई है।

खादी की सहायता

किन्तु जब उसी जुलाहे को हाथ से कते सूत का कपड़ा बुनने को कहा जाता है तो क्या होता है? वह सूत, वह कपड़ा, जुलहा, संगठनकर्त्ता, और इस प्रथा को चलाने वाली राजनीति विद्रोही घोषित की जाती है, सौभाग्य से वैसे दिन व्यतीत हुए और ऐसा भी समय आया जब स्वयं सरकार के ही कांग्रेसी मंत्री वही खद्दर पहनने लगे, और सभाओं में भारी जन-समूहों को वैसा ही कपड़ा पहनने और गरीबों की सहायता करने के लिये उत्साहित करने लगे ताकि धन का प्रवाह गांवों से कस्बो की ओर, कस्बों से नगरों और नगरों से समुद्र-पार न बह कर नगरों से कस्बों और कस्बों से गांवों तथा गावों से गरीब विधवाओं, असहाय स्त्रियों और वृद्धा माताओं की ओर बह सके।

लोगों ने उपहास के साथ पूछा है, कि क्या एक आने की मजदूरी की ओर झुका जा सकता है जब कि हाईकोर्ट में एक वकील किराए की गाड़ी बुला लाने के लिए नियुक्त लड़के को चार आने मजदूरी देता है। यह बिलकुल ठीक है। ऐसी नौकरी में लगा हुआ लड़का अच्छी मजदूरी पाता है। लेकिन हाईकोर्ट हर एक गांव में नहीं होते वे केवल ५, ६, नगरों में ही पाए जा सकते हैं। इस देश में जहां साढ़े सात लाख गांव और दो हजार आठ सौ कस्बे हैं इनमें रहने वाले लोगों पर क्या बीत सकती है जब कि आप हाईकोर्ट वाले कुछ शहरों में किराए की गाड़ी बुलाने वाले नौकर की चार आने मजदूरी पाने की बात ही

सोचें, क्या आपको मालूम है कि हम लोगों के लेखानुसार प्रत्येक भारतीय की औसत आमदनी तेइस रुपया है और लार्ड कर्जन ऐसे प्रतिक्रियावादी वाइसराय के हिसाब से अड़तालीस रुपया है। और उनका तखमीना चार रुपया महीना या दो आना रोजाना होता है। यदि ऐसी बात है तो क्या उन दो आनों में एक आना और जोड़ने से और वह आना उन लोगों को दिलाने से कुछ खो सकते हैं जो अपने घरों की पर्दगी में पड़े रह सकते हैं और अपनी फुरसत के समय मेहनत कर सकते हैं जो उनके लिए काम के बजाय मनोरंजन ही हो ? और हाल ही में महात्मा गांधी ने कताई की मजदूरी एक आने की जगह दो या तीन आना तक बढ़ा देने पर जोर दिया है उन्होंने कहा है कि आठ घंटे तक कताई और एक घन्टे धुनाई की रोजाना मजदूरी आठ आने से कम नहीं होनी चाहिये, और अपने सहकारियों द्वारा ध्यान दिलाये जाने पर व्यावहारिकता के कारण ही मजदूरी आठ आने की जगह दो, तीन, चार आने करवा दी है।

श्रम और सम्पत्ति

यह दरें अनेक स्थानों में चालू कर दी गई हैं, और खद्दर के कार्यकर्त्ताओं को लोगों की इस आलोचना के विपक्ष भी कि खद्दर का दाम जहां पहले ही अधिक था वहां अब और भी अधिक किया जा रहा है नई दरें स्वीकार करनी पड़ी हैं, फिर भी वे बढ़ रही हैं, गरीबों की सहायता के लिये धनिकों को त्याग करने की आवश्यकता है धनिकों की सम्पत्ति गरीबों की मजदूरी से पैदा होती है, और धनी व्यक्ति के लाभ के दृष्टिकोण से भी मजदूर को मजदूरी के योग्य होना चाहिये और उसकी मजदूरी उसके श्रम के योग्य होनी चाहिये, यदि श्रम सम्पत्ति उत्पन्न करता है तो यह उचित ही है कि श्रम दृढ़ और समर्थ हो जिससे धनिक वर्ग में वह अधिक धन खड़ा कर सके। इस दृष्टिकोण से

भी किसी को कताई की मजदूरी बढ़ने पर कदापि एतराज नहीं करना चाहिए, इस प्रकार अर्थ-शास्त्र, नैतिकता और राजनीति के दृष्टि से देखने पर खद्दर को अपने लिए पिछले अनेक वर्षों में दिये ध्यान और तत्परता के लिए लज्जित होने का कोई कारण नहीं।

खद्दर की परिभाषा

अखिल भारतीय चर्खा-संघ ने जो खद्दर के उत्पादन और वितरण के लिए कांग्रेस द्वारा नियुक्त संस्था है, कुछ नियम निश्चित किए हैं, जो इस धंधे की उन्नति के लिए निश्चित हैं और वास्तविक रूप में खद्दर की यह परिभाषा की है कि वह केवल ऐसा ही कपड़ा नहीं है जो हाथ के कते सूत से हाथ के करघे पर पुना गया हो, बल्कि वह कपड़ा है जिसके तैयार करने में प्रत्येक कारीगर चाहे वह धुनिया, कातने वाला, बुनने वाला, छीपी, रङ्गरेज, वा धुलाई करने वाला ही उचित मजदूरी दी गई हो। इसलिये खद्दर की कानूनी परिभाषा चाहे जो कुछ हो किन्तु राजनैतिक परिभाषा जो आर्थिक परिभाषा भी है यह है कि—खद्दर वह कपड़ा है जो कि अखिल भारतीय चर्खा-संघ द्वारा नियुक्त वा स्वीकृति मजदूरी पाने वाले कारीगरों द्वारा तैय्यार किया गया हो, इसी कारण जनता से प्रमाणित दुकानों का खद्दर खरीदने की बात कही जाती है, लोगों में सब तरह का कपड़ा बाजार में रखने का बहुत अधिक प्रलोभन हो रहा है, ऐसी जटिल अवस्था में खद्दर के प्रमाणित रूप उत्पादन और वितरण करने के नियंत्रण का अतिरिक्त कष्ट अखिल भारतीय चर्खा संघ ने अपने ऊपर लिया है, प्रान्तीय सरकारों में भी इनकी मांग उत्पन्न हो रही थी। अखिल भारतीय चर्खा संघ या उसकी प्रमाणित संस्थाओं द्वारा आज कुल जितना खद्दर तैयार हो रहा है वह किसी एक प्रान्तीय सरकार को भी भिन्न भिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं होता,

यदि सरकार ने अपने अस्पताल, पुलिस और उनके द्वारा वर्दी दिए जाने वाले नौकरों के लिए खद्दर लेना निश्चित किया होता।

यह बात विश्वस्त रूप से मालूम हुई है कि डि० बोर्ड, म्युनिस्पलबोर्ड जब खद्दर खरीदना चाहते हैं तो वे अप्रमाणित संस्थाओं से भी तखमीना मांगते हैं, यह बात रोकी जानी चाहिये डि० बोर्डों के कांग्रेसी प्रेसीडेन्ट इस बात को निःसंदेह जानते हैं कि ऐसी अप्रमाणित संस्थाओं को प्रश्रय वा प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिये, इसलिये ऐसी संस्थाओं से इस प्रकार तखमीना मांगना या मंजूर करना उसके लिए अनुचित है. इसलिए हम लोगों ने इस सम्बन्ध के सभी अधिकारियों से प्रार्थना की थी कि वह ऐसी अप्रमाणित संस्थाओं से खद्दर न लें।

अब इस अवस्था में खद्दर की प्रशंसा का बखान करना व्यर्थ है, खद्दर ने समय के प्रहारों और परिस्थितियों को सहन कर लिया है, या सार्वजनिक आलोचना के प्रहारों को पार कर चुका है, यह उपहार और व्यंग के दिन देख चुका है जो प्रारम्भ होने के काल में प्रत्येक प्रगतिशील आन्दोलन को भोगना पड़ता है, इसने निरपेक्षता और उदासी भी अपने प्रति देख ली है, इसने सर्वसाधारण द्वारा अपने प्रचार का समय देखना प्रारम्भ किया है। वह समय शीघ्र ही आ सकता है, जब लोग तुरन्त यह अनुभव करने लगेंगे कि उनके हृदय गरीबों की सहायता के लिए गांवों की ओर जाने चाहिये, तथा धनिक यह अनुभव करने लगेंगे कि उनके पास जो बचा हुआ धन है वह गरीबों के सुख के लिए धरोहर की भांति है, और यह गरीबोंका अधिकार है कि वह अपने लिये भोजन, वस्त्र और रहने का अधिकार प्राप्त करें, तथा यह धनिक वर्ग का कर्तव्य है कि वह अपने गरीब बन्धुओं को जीवन की यह आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करें।

अपनी रचना का मालिक

खद्दर घर की पवित्रता रक्षित रखता है, परिवार को एक साथ रहने देता है, और कारीगरी की तैयार वस्तु कारीगरी की जायदाद बनाता है जिसे वह चाहे इस्तेमाल करे, जमा रक्खे, बेंचे, गिरो रक्खे, वा जिस ढंग से वह चाहे वैसा करे, वह रचयिता होता है और अपनी रचना का मालिक होता है, वह अपने ही घर में रहता है, किन्तु उसका घर सिर्फ कारखाना ही नहीं होता है बल्कि एक स्कूल भी होता है जिसमें उसके बच्चे अपने माता पिता की गोद में पुश्तैनी कारीगरी को सीखते हैं, घर का हर एक आदमी उस धन्धे से सम्बद्ध रखने वाले किसी न किसी भाग से सम्बन्ध रखता है और वहां ऐसी कोई बात नहीं होती कि केवल कोई बेजोड़ बेमेल मशीन सम्बन्धी निर्जीव काम का कोई निश्चित भाग कारखाने में करना पड़े और सिर्फ मजदूरी से मतलब हो कारीगर अपना ही मालिक होता है और उसे जब जरूरत हो छुट्टी ले सकता है, उसे दूसरे के पास आवेदन पत्र भेजने की जरूरत नहीं होती, शादी हो, मौत हो, कोई बीमारी हो या सिर्फ कुछ तबीयत भारी हो, उस दशा में वह एक दूर के ऐसे मालिक की दया का भिखारी नहीं होता जो एक दूर की जगह में रहने वाला, अविचारशील सहानुभूत-हीन और निष्ठुर हो जिसका एक मात्र ध्यान सिर्फ धन कमाने का हो, वह अपनी इच्छानुसार ही रहता और काम करता है और घूमता फिरता है, उसके समय का नियंत्रण उसके ही हाथ में रहता है, भारतीय सभ्यता की बुनियाद कायम करने वाले ग्राम-उद्योगों के प्रभुत्व को इस बीसवीं शताब्दी में चुनौती नहीं दी जा सकती, जब जापान से लेकर मिस्र तक चीन, अरब, फ़िलस्तीन, सीरिया, ईरान, अफ़गानिस्तान और मेसोपोटामियां आदि में पाश्चात्य वस्तुओं का सार्वभौमिक

वहिष्कार जोरों से किया जा रहा है और जब प्रत्येक देश अपने ही व्यापार का सन्तुलन करना चाहता है और निर्यात को आयात की कीमत चुका सकने में समर्थ बना कर अपने देश को बिल्कुल स्वावलम्बी बना रहा है तो यह बिल्कुल स्पष्ट है कि भारत के गांवों के लुप्त और लुप्तप्राय धन्धों के पुनर्स्थापन की अत्यधिक आवश्यकता पर कोई आपत्ति नहीं कर सकता, खद्दर उन धन्धों में सबसे मुख्य है इसलिए इस समय उसके बहुत अधिक महत्व पर बहुत अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं।

अध्याय १३

मद्य-निषेध

मद्य-पान संसार का एक बहुत बड़ा अवगुण है। करोड़ों निर्धन और हजारों धनी व्यक्ति इस भीषण अवगुण के शिकार बन कर अपने स्वास्थ्य, सम्पत्ति और जीवन के सुख को बर्बाद कर रहे हैं। पाश्चात्य लोगों की दृष्टि में मद्य-पान आपत्ति-जनक नहीं है, किन्तु हम लोगों के देश में मद्य-पान को कोई अच्छा नहीं कहता वह चाहे समाज के जिस वर्ग का व्यक्ति हो। जो जातियाँ प्राचीन प्रथाओं के अनुसार मद्य-पान करती आ रही हैं वे भी इस सम्बन्ध की दुर्बलता को अपनी प्रतिष्ठा के अनुकुल नहीं कह सतकीं किन्तु पाश्चात्य देशों के सम्पर्क के फलस्वरूप लोगों में से कुछ नए वर्ग विशेष कर समाज के धनिक वर्गों में कुछ लोग आम तौर पर शराब पीने और विशेष रूप से विदेशी शराब के अभ्यस्त हो रहे हैं। यह बात नहीं है कि प्राचीन काल में हम लोगों के देश में मद्य-पान नहीं था। सचमुच प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे लोगों के उदाहरण मिल सकते हैं जो मादक चीजों का सेवन करते थे। भगवद्‌गीता के एक श्लोक से यह बात स्पष्ट है; जिसमें शुक्राचार्य ने सब तरह के मद्यों का निषेध किया है। उन्होंने कहा है कि मद्यपान करने वाले सभी लोग पाप के भागी हैं।

जादू का भण्डाफोड़

इस देश की आबादी पैंतीस करोड़ है, जिसमें हिन्दू चौबीस करोड़ और मुसलमान आठ करोड़ हैं। हिन्दुओं में चार करोड़ अछूत कहे जाने वाले लोग हैं। जिसमें ८०-९० प्रतिशत तक पुरुष मद्यपान के भीषण चक्र में फँसे हुए हैं इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे वर्ग के लोग हैं जो मजदूर पेशा व चलते-फिरते भिक्षुक हैं जो

अपनी आमदनी का अधिकांश मद्यपान में ही खर्च करते हैं और यह बड़े अफसोस की बात है कि किसानों के उच्चवर्ग में भी कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने मद्यपान की लत के कारण अपनी प्रतिष्ठा, समाज में स्थिति, आचरण और व्यक्तिगत तथा पारिवारिक सुख को नष्ट कर दिया है।

अंग्रेजों के इस देश में आने के बाद मद्य-पान एक सर्व-प्रचलित अवगुण बन गया और उसके व्यवसाय को देश की हुकूमत द्वारा सार्वजनिक रूप से अधिकार-पत्र मिलता है बहुत दिनों से शराब वास्तव में सरकार के राजस्व का मुख्य अधिकार बन गई है। मद्य-पान ऐसे घोषित अवगुण को, जो चोरी और जुए की तरह से एक जुर्म माना गया है, क्रय-विक्रय का अधि-कार पत्र देना लज्जा और शोक की बात है। शराब, जो समाज के लिये विध्वन्सक है, का व्यापार चलाने के लिये अधिकार-पत्र दिया जाना सरकार के लिये उससे कम घृणास्पद नहीं है, जितना उसकी ओर से डकैती और चकलेखानों के लिये आश्रय दिया जाना किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि हम लोगों के शासकों की दृष्टि में न तो मद्य-पान को और न जुये को ही उस रूप में और उस हद तक घृणित माना जाता है। जितना हम लोगों के देश में प्राचीन परम्परा के अनुसार माना जाता था।

हिन्दुओं की ही भांति मुस्लिम समाज में भी धर्म-संस्थापकों और आचार्यों ने स्पष्ट रूप में मद्य-हीन और इस अवगुण के विरुद्ध उपदेश दिया है। यह दुःख की बात है कि मुस्लिम समाज में भी हिन्दू समाज की भांति मद्य-पान का बहुत अधिक प्रवेश हो गया है और जो लोग समाज के हित-चिंतक हों उनका यह कर्तव्य है कि इस भीषण अवगुण को उखाड़ फेकने के लिये अपने ऊपर अनवरत अथक परिश्रम करने का भार धर्म के नैतिक नियम से ही न समझें बल्कि कांग्रेस की भी आज्ञा समझें।

सत्रह करोड़ का राजस्व

ब्रिटिश भारत में केवल इस घृणित व्यापार के राजस्व से सरकार को कुल १७ करोड़ रुपये की आमदनी होती है. मद्रास सरकार के कुल राजस्व १६ करोड़ का चौथाई आबकारी से प्राप्त होता है। क्या यह बड़े दुर्भाग्य की बात नहीं है कि जहां मद्य पान में फंसे हुये निर्धन व्यक्ति उसके कारण भूखों मर रहे हों, वहाँ गरीबों के खून से प्राप्त इस राजस्व की सहायता से शिक्षा प्राप्त कर धनिक वर्ग में हँसी-खुशी मना रहे हों ? क्या यह एक को लूटकर दूसरे को देने तथा गिद्ध खिलाने कौवे मारने का उदाहरण नहीं हैं।

जीवन के कला और शिल्प में प्रवीण सम्पूर्ण परिवार मद्य-पान के प्रभाव के कारण अपने कौशल और कार्य-शक्ति से रहित हो गये हैं। मद्य-पान के बढ़ते हुये प्रभाव के कारण मद्य पीने वाले की कार्य-कुशलता कम होती जाती है उनका स्वयम् रक्त पतित हो जाता है और उनमें अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यह बात सबको मालूम है कि मद्य पीने वालों में रोग का निरोध कर सकने की शक्ति कितनी कम होती हैं और उनके वे विनाशक प्रभाओं के तुरन्त शिकार हो जाते हैं। मद्य पान से निर्णय शक्ति कम हो जाती है और शराबी उन प्रलोभनों में बड़ी जल्दी पड़ जाते हैं जो उन्हें अनेक तरह के जुल्मों में खींच ले जाते हैं।

मद्य-पान का विरोध करने से मजदूर-पेशा लोगों की गरीबी तुरन्त ही आधी कम की जा सकती है उनके स्वास्थ और संस्कार की उन्नति हो सकती है। देश में जुर्म तो कम होगा ही उनकी जांच-पड़ताल और रुकावट के लिये सरकार को जो खर्च करना पड़ता है वह भी कम हो जायगा। धन की बचत होगी और उसके बदले व्यापार बढ़ेगा। उत्पादन अधिक होगा और राष्ट्र की रचनात्मक शक्ति बढ़ेगी।

पिछले कई वर्षों से कांग्रेस की ओर से लोग मद्य-निषेध के आन्दोलन का प्रचार करते आये हैं। कांग्रेस मंत्रिमण्डलों के भिन्न-भिन्न प्रांतों में बनने पर इस आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया गया था। प्रान्त के सब जिलों में एक साथ ही मद्य-निषेध कर देने से प्रान्तों की बहुत बड़ी आय एक-ब-एक रुक जाती और प्रान्त के प्रबन्ध के लिये तुरन्त व्यय जुटा सकना कठिन होता, इस कारण पहले कुछ जिलों में शराब-बन्दी प्रारम्भ की गई थी। अन्य सब मद्दों में जहां तक सम्भव होता खर्च की कमी कर पूरे प्रान्त भर में शराब-बन्दी के घाटे को पूरा कर सकने की व्यवस्था धीरे-धीरे की जा सकती थी। कुछ भी हो, हमारा कर्तव्य देश भर में मद्य निषेध के पक्ष में आन्दोलन करने का होना चाहिये जिससे नैतिक क्षेत्र में सुधार हो सके।

बङ्गाल का मामला

जब प्रान्तीय सरकारों ने मद्य-निषेध का कार्य-क्रम अपने हाथ में लिया था तो इस सुधार की बुद्धिमानी में सन्देह रखने वाले बहुत से लोग कठिनाइयां और आपत्तियां बतलाते थे। वे निर्मूल सिद्ध हो सकती थी। एक आपत्ति यह की जाती थी कि जब लोगों को खुले आम शराब न पीने दिया जायेगा तब गैरकानूनी तौर पर शराब चुवाया जाना अवश्य ही बढ़ जायगा, किन्तु यह बात ठीक नहीं है क्योंकि वास्तविक भेद इस बात से पड़ सकता है कि सुधार का कार्य-क्रम किनकी तरफ से हाथ में लिया जा रहा है। बङ्गाल में जहां सरकार शराब के पक्ष में नहीं है या कहा जाता है कि अन्य बड़े प्रान्तों की तरह से मद्यमान से प्राप्त राजस्व कुल राजस्व का चतुर्थांश या पञ्चमांश नहीं है। निस्संदेह बङ्गाल एक बहुत बड़ा प्रान्त है और भारत के अन्य प्रान्तों की अपेक्षा उसकी जन-संख्या अधिक

है फिर भी वास्तविक बात यह है कि वहां शराब से प्राप्त राजस्व बहुत कम है। इसका कारण यह है कि बङ्गाल की सरकार मद्यपान को सदा निरुत्साहित करती रही है और बङ्गाल की देहाती जनता में मादक द्रव्यों की परहेजी का स्वभाव सर्वत्र होने से मद्यपान का राजस्व बहुत कम, – बिहार मद्रास और बङ्गाल की अपेक्षा बहुत ही अधिक घटा हुआ है। यथार्थ में बङ्गाल में ताड़ के पेड़ों से निकली हुई सब ताड़ी गुण बनाने के काम में आती है।

कारणों के छान-बीन

इस सम्बन्ध में गरीब लोगों में प्रचलित मद्यपान के सम्बन्ध में कुछ आंकड़ों का अध्ययन करना मनोरञ्जक होगा। कुछ आंकड़े जो न्यूयार्क के अस्पताल के कुछ रोगियों से तैयार किए गए हैं, यह बात प्रकट करते हैं कि वे रोगी अनेक कारणों से शराब पीने की ओर झुके. सामाजिक कारणों से ५८·५ प्रतिशत मद्य पान में लिप्त हुए १३ प्रतिशत घरेलू झगड़ों के कारण ६·२ प्रति इलाज के लिये, ७ प्रतिशत पेशे के कारण, ७ प्रतिशत बड़ों द्वारा बहकाए जाकर, ५ प्रतिशत बेकारी के कारण, १·३ प्रतिशत खेल में लगे होने के कारण, और ५ प्रतिशत लोग यह नहीं बता सके कि उनमें शराब पीने की लत किस प्रकार आई।

विनाश का चक्र

अब मद्य-पान के सामाजिक दुष्परिणाम को लीजिये, तलाक अधिकतया घरेलू झगड़ों के कारण होते हैं जो मद्य-पान के कारण उठते हैं। यह कहा जाता है कि अमेरिका में १८८७, १६०६ सालों के बीच एक लाख चौरासी हजार शादियों का अन्त तलाक रूप में हुआ, इनमें ४५ प्रतिशत मद्य-पान के कारण हुई थीं, शहरों में हम प्रायः चकलों की बात सुनते हैं, और इन चकलों में जुटने वाली ८० प्रतिशत स्त्रियाँ मद्य-पान के प्रभाव के कारण ऐसा करती हैं। हमारे

ही देश में पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त में मद्य-पान का औसत खर्च प्रति व्यक्ति कहा जाता है कि तीन आना आठ पाई है, बम्बई में दो रुपया है, तथा अन्य प्रांतों में यह रकम इन दो रकमों के बीच ही कम ज्यादा है।

कार्य करने की शक्ति पर मद्य-पान की प्रतिक्रिया पर विचार कीजिये, शराब के प्रभाव के कारण निशाने-बाज हाथ के कांपने के कारण निशाना लगाने में चूकता है, छापेखाने का कम्पोजिटर अपनी अंगुलियां अस्थिर अनुभव करता है, और खेल के मैदान में खिलाड़ी यह अनुभव करता है कि उसके अङ्ग लगभग कमजोर हो गए हैं, आदमी सप्ताह भर काम करते हैं। और एतवार को छुट्टी पाते हैं। उस दिन वह खूब शराब पीते हैं। सोमवार को वह काम करने के अयोग्य होते हैं। चिकित्सा-शास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते हमने प्रायः देखा था कि अस्पताल में सोमवार के दिन डाक्टर पर बहुत कम विश्वास किया जा सकता है, जो आदमी शनिवार के दिन ८० प्रतिशत ठीक निशाना मार सकता है, वही सोमवार के दिन ७० प्रतिशत निशाना मार सकता है, जो कम्पोजिटर शनिवार के दिन ८ स्टिक कम्पोजिंग कर सकता है, वह सोमवार के दिन केवल ६ ही स्टिक १०फीट तक कूद सकता है, जो व्यक्ति लम्बी कुदान में शनिवार के दिन ही कूद सकता है, आश्चर्य की बात यह है कि सोमवार से मंगल तक तथा मंगल से बुद्ध तथा वृहस्पति तक इन सब लोगों की कार्य शक्ति धीरे धीरे बढ़ती रहती है, और वृहस्पति के शाम तक वे अपनी सामान्य कार्य शक्ति व सफलता तक पहुंच जाते हैं। शुक्रवार के दिन वे पूर्ण रहते हैं, शनिवार के दिन भी वे वैसे ही रहते हैं। किन्तु फिर रविवार मद्य-पान का दिन आता है और सोमवार से एक क्षीणता प्रारम्भ होती है।

इस प्रकार विनाश का चक्र तेजी से चलता रहता है, जब

तक कि अन्त में कल इतनी अधिक टूट नहीं जाती कि फिर उसका उद्धार न हो सकता हो, मद्य-पान के विरुद्ध बात को अनेक रूप से समझाया जा सकता है।

नैतिक रूप से विचार करने पर यह ईश्वर के विरुद्ध एक पाप है सामाजिक रूप से विचार करने पर सभ्यता के ऊपर यह एक धब्बा है दैहिक रूप से विचार करने पर यह हम लोगों के दैनिक कार्यों के करने में एक बाधा है, आश्चर्य की बात यही है कि यह सभ्य सरकार इतने समयों तक राजस्व के इस साधन को परिश्रम पूर्वक संचालित रखती आई है।

जब मद्य-पान का निषेध कर दिया जाता है तो सरकार को दी जाने वाली मद्रास प्रान्त की ही रकम चार करोड़ बचा सकने में ही जनता समर्थ नहीं होती है, बल्कि उनका कुल सत्रह करोड़ रुपया बचता है जो मद्रास प्रान्त में खपत होने वाली खुद शराब की ही खपत है। इस प्रकार केवल मद्रास के ही सब जिलों में शराब बन्दी जारी हो जाय तो लोगों को २१ करोड़ रुपये की बचत हो जाय और, इस तरह सरकार को राजस्व देने वालों की शक्ति इतनी बढ़ जाय और खुद सरकार को भी बहुत कुछ खर्चे की कमी हो जाय, लोग जो इस प्रकार सम्पन्न हो चुके रहेंगे सरकार और समाज की अनेक रूप से सहायता करेंगे, और शराब-बन्दी का आन्दोलन सफल होने पर सब ओर सुख और सम्वृद्धि का नया युग स्थापित हो गया रहेगा।

———

अध्याय १४

अस्पृश्यता-निवारण के लिये ऐतिहासिक अनशन

अस्पृश्यता-निवारण कोई नया विचार नहीं है, राजनैतिक कार्यक्रम के रचनात्मक कार्यों के तीन मुख्य विभागों में एक इसको माना जाना नई बात है, गांधी जी के रचनात्मक सुधार का कोई भी विषय हाथ की कताई के पुनरुद्धार को छोड़कर नयी खोज नहीं है, किन्तु यह आर्थिक सामाजिक और नैतिक बातों का समुच्चय है, जिससे यह कार्य-क्रम कुछ समय की खोज समझा जाता है, देश भर में तूफानी दौरों में गांधी के पास पीड़ित लोगों को सहायता पहुंचाने के लिये लोग पहुंचते रहे हैं। और भिन्न-भिन्न लोगों की मुसीबतें भिन्न २ प्रकार की पाई गई, एक स्थान पर वेश्याओं ने उनकी सहायता चाही और दूसरे स्थान पर अछूतों ने, एक स्थान पर शराबी और ऐय्याश लोगों के असहाय परिवार सहायता मांगने आये और दूसरे स्थान पर निर्धन परिवारों के भूखे मरते हुए बच्चे हाथ पसारे आए। दाएँ, बाएँ, आगे, पीछे सब ओर विपत्तियों के दृश्य ने उन्हें निराशा में न डाला और न जंगल में तपश्चर्या करने वा निष्क्रिय योग्य में लीन होने के लिए उन्हें प्रवृत्त किया, किन्तु महात्मा जी जिस प्रकार के मनुष्य हैं, रग रग मनुष्य हैं, उन्होंने वेश्याओं और अछूतों, भूखे मरने वालों, शराबियों, और ऐय्याशों को त्राण देने के मार्ग निकालने के लिये सोचना प्रारम्भ किया, उनके विचारों और अनुभवों से अनेक प्रकार के निवारक साधन और एक सूत्र में विकास का जन्म हुआ है, जिसको देश ने सर्वाङ्गीण रचनात्मक कार्य-क्रम रूप में स्वीकार कर लिया है, अस्पृश्यता-निवारण की उत्पत्ति इस प्रकार हुई।

पृष्ठ भूमि

लगभग एक शताब्दी पहले राजाराम मोहन राय ने इस क्षेत्र में

प्रयत्न किया, और उन्होंने जो झंडा उठाया उसे उनके उत्तराधिकारियों ने आकाश में उड़ते ही रक्खा, विशेष कर उन लोगों ने जब ब्रह्म समाज के संचालक रहे हैं। कोड़ियों ऐसे दृष्टांत हैं, जिसमें हरिजन बालिकाओं का उद्धार किया गया है। हरिजन बालकों का पालन-पोषण किया गया है. ये दोनों ही ईमानदार नागरिक रूप में वयस्क हुये हैं। और सुखी तथा सुन्दर जीवन व्यतीत किया है, कोई भी कड़ा आन्दोलन पृष्ठ के बिना अकस्मात उठ खड़ा नहीं होगा और भारत में एक शताब्दी पहले जब तब और जहां-तहां हुए, इन स्फुट उदाहरणों ने सामाजिक धार्मिक सुधार के एक कार्य-क्रम में कुछ याग दिया है, जिसे रामानुज ऐसे महात्माओं ने जन्म दिया था, यह सब बातें आधुनिक पीढ़ी की कीमती विरासत हैं। और गांधी जी ऐसे नेता के लिये स्फूर्ति हैं, जिन्होंने एक सामाजिक राजनैतिक कार्य-क्रम को जन्म दिया है जिसमें अछूत कहे जाने वाले वर्गों—जिनको उन्होंने हरिजन नाम दिया है, के सामाजिक और आर्थिक सुधार का महत्वपूर्ण स्थान है।

सारे देश में एक उल्लेखनीय लहर प्रवाहित हो गई है, और यथार्थ में महत्व की बात केवल सफलताओं की सूची नहीं है, बल्कि उस भावना की है, जो कांग्रेस के नए कार्य-क्रम के परिणाम-स्वरूप हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गई है, सहायता की भावना तथा अवर्णों के द्वारा अपने कर्तव्य की स्वीकृति ने अपना विस्तृत कार्य क्षेत्र बना लिया है, हाई स्कूल के विद्यार्थियों के लिये छात्र-वृत्ति, उद्यम की शिक्षा देने वाली संस्थाएँ, जैसे जूता बनाना, सिलाई, चमड़ा कमाना बढ़ईगिरी बुनाई, होम्योपैथिक, आयुर्वेद, चटाई बुनाना, छापने का काम, ताड़ के काम, टीनसाजी, कसेरे (बर्तन जोड़ने) का काम, बाल पाठशाला, विद्यार्थियों के लिये छात्रावास चिकित्सा

के केन्द्र और हरिजनों के लिये चिकित्सा-शास्त्र की परीक्षायें, और उनके लिये नये कुयें खुदवाना, कारखाने, व्यापारिक गद्दियों और दूकानों तथा सवर्ण हिन्दुओं के घरों में हरिजनों को नौकरी देना तथा उन्होंने अखबार बेचने वाले आदमियों का काम देना और उन्हें सवर्णों के लिए धोबी और नाई का काम करने की शिक्षा देना, हरिजन कामों में बैल भेजवाना, हरिजन मजदूरों, उनकी मजदूरी की वृद्धि तथा उनकी बस्तियों में पुस्तकालय अखाड़ा तथा सामाजिक संघों की स्थापना, हरिजन बच्चों में कपड़े बटवाना, तथा वयस्क हरिजनों में कम्बल बटवाना ये सब कुछ देश-भक्ति और वास्तविकता सेवा के कार्य हैं जो गांधी जी द्वारा स्थापित हरिजनों में भारी संगठन द्वारा किये जा रहे हैं।

इसके बाद कुछ प्राचीन प्रतिबन्ध हैं जिनके आधीन हरिजन पड़े हुये हैं। उदाहरणार्थ—गढ़वाल जिले में हरिजनों की बरात में डोली और पालकी ले चलने की मनाही है. इलाहाबाद के हाईकोर्ट से उनके इस अधिकार के पक्ष में निर्णय किया गया है, मध्य देश में भंगियों को लारी हांकने वाले अपनी लारियों में नहीं बैठाते किन्तु शाजापुर के भंगियों ने यह अधिकार प्राप्त कर लिया है सब कुछ कैसे हुआः—समाज सुधारकों के जहां तहां के दृष्टान्तों द्वारा वा अर्थ-शास्त्र के आग्रहों द्वारा वा धर्म संस्थापकों के उपदेशों द्वारा नहीं हुआ बल्कि एक नेता का ऐतिहासिक अनशन द्वारा सारे देश में व्याप्त प्रबल शक्ति द्वारा हुआ जिसने अपने जीवन को नगण्य समझा और करोड़ भाइयों से चार करोड़ हरिजनों के पृथक हो जाने को रोकने के लिए आमरण अनशन करने का निश्चय किया।

ऐतिहासिक अनशन

जब आज के राजनैतिक क्षेत्र में जगमगाते हुए पुरुष अपना कार्य कर चुके रहेंगे और लुप्त हो चुके रहेंगे तथा जब कि आज

की राजनीतिक कल के इतिहास रूप में स्थापित हो रहेगी और भारतीय जनसंख्या के पंचमांश के एक लुप्त वर्ग माने जाने का विचार तक भूतकाल की विस्मृतप रम्परा बन गया रहेगा तब २० दिसम्बर का महात्मा जी का अनशन एक भविष्य में शताब्दियों तक बाद में आने वाली पीढ़ियों की स्मृति एक ऐतिहासिक घटना बना रहेगा जिसने राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिये भारतीय आन्दोलन के पूर्ण रूप को ही परिवर्तित कर दिया। यह अनशन एक सामाजिक बुराई के राजनैतिक शोषण के विरुद्ध किया गया था जिसके लिए अल्प मत और बहुमत कही जाने वाली जनता के बीच एक स्थायी दीवाल खड़ी कर उन्हें पृथक २ कर देने का प्रयत्न किया गया था जिनको भगवान ने यथार्थ में विशाल हिन्दू जाति में संयुक्त कर दिया है हरिजनों को एक राजनैतिक दल में पृथक २ करना 'भेद डाल कर शासन करने" की नीति के प्रयोग का स्वाभाविक मार्ग था जिसने पहले मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग किया। बाद में सिक्खों को, हरिजनों को, इस राजनीतिक धूर्तता के काम ने महात्मा जी को पूरा हिला दिया जो हरिजनों को एक पृथक रूप में किए जाना कभी भी स्वीकार नहीं कर सकते थे। क्योंकि उन्होंने कहा था कि सिक्ख इस रूप में अनन्त काल तक रह सकते हैं। उसी प्रकार मुसलमान भी चिरस्थाई रूप से रह सकते हैं। मैं अस्पृश्यता के रहने की अपेक्षा हिन्दुत्व के लोप हो जाने को सहन कर सकता हूं" दूसरे स्थान पर द्वितीय गोल मेज सभा के प्रसिद्ध भाषण में उन्होंने कहा था "मैं भारत की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये भी अछूतों के मुख्य स्वार्थ को नहीं छोड़ सकता।"

महात्मा जी का अनशन व्रत उसके उद्देश्य हिन्दू समाज तथा स्वयम् मानव प्रकृति में तथा सरकारी हल्कों में पूर्ण विश्वास रख कर किया गया था जो उपवास उत्पत्ति में इतना निर्मल,

अभिप्राय में इतना सर्वाङ्गीण और लक्ष्य में ऊंचा हो उसका सब प्रकार से विश्वास उत्पन्न करने वाला अपने पक्ष में मिलाने वाला और विजय प्राप्त करने वाला आवश्यक था अन्यथा हम हरिजन-सेवक-संघ से १६३६ ई० के विशद् विवरण का कारण क्या बता सकते हैं? उस सभी प्रान्तों में व्यय हुये चार लाख रुपये में से एक लाख आठ हजार रुपया अकेले मद्रास में व्यय हुआ था। केन्द्रीय संगठन के आधीन सत्ताईस प्रान्तीय संघ और दो सौ जिला समितियां काम कर रही हैं।

हम सब जगह हरिजनों की सभाएँ, हरिजनों में धार्मिक शिक्षा, मन्दिरों में हरिजन भजन मंडलियां हरिजन संस्कारों में वैदिक अनुष्ठानों हरिजन केन्द्रों के नागरिक निरीक्षणों तथा उद्यम तथा उद्योग सम्बन्धी हरिजनों की संस्थाओं की बात सुनते हैं। देश में एक बिल्कुल नए वातावरण का संचार हो उठा है, हरिजन वर्ग के कल्याण के सम्बन्ध में एक नई उत्सुकता हो उठी है इस विस्तृत और विशाल हरिजन उद्धार के लिए सबसे अधिक स्फूर्ति हरिजन आन्दोलन के लिये महात्मा जी द्वारा साबरमती आश्रम दिये जाने से उत्पन्न हुई थी वही एक संस्था थी जिसको महात्मा जी अपना कह सकते थे या लोग उसे महात्मा जी का कह सकते थे किन्तु उसके तोड़ देने पर यह महात्मा जी के लिए बिल्कुल उपयुक्त रूप से कहा जा सकता है, कि आसमान में उड़ने वाली चिड़ियों के घोंसले होते हैं। और जंगल में चरने वाले पशुओं के भी मांदें होती हैं। किन्तु मनुष्य के पुत्र को सचमुच ही स्थान नहीं होता जहां वह अपना सिर रक्खे।"

एक नई सभ्यता

कठियावाड़ की अपनी एक यात्रा में मैं मोरवी राज्य में गया और एक हरिजन बाड़ा देखा जो दक्षिणी प्रान्तों के ब्राह्मण मन्दिरों के मुकाबले का था, भाव नगर में मैंने एक भोजनालय

और चमड़ा कमाने का कारखाना देखा। पोरबन्दर में एक सुन्दर हरिजन संस्था है प्रत्येक स्थान पर लोग अपनी हरिजन संस्थाओं में यात्रियों को लिवा जाने में गर्व का अनुभव करते हैं। यह सभ्यता के नये चिन्ह, राष्ट्रीय जागृति के नये लक्षण और राष्ट्रीय पाश्चात्ताप के वास्तविक प्रमाण हैं।

समस्या

आज देश के सामने यह समस्या है कि क्या ग्रहण किया जाय और क्या त्याग किया जाय, भविष्य की समस्या केवल समाज-सुधार वा धार्मिक उन्माद नहीं है, आन्ध्र देश के हरिजन खेतों में काम करने वाले मजदूर हैं, जो सवर्ण जमींदारों के लिये खेत जोतते, बोते, काटते और खलियान लगाते हैं उनकी दशा बड़ी दयनीय है। स्पष्ट शब्दों में कहने पर उन्हें आधा पेट खाकर रहने वाला कहा जायगा, आज भी वे दूर रखे जाते हैं और महात्मा जी के हाल में प्रयुक्त शब्दों के अनुसार उनसे बात-चीत के करने के स्थान पर उनके विषय में ही अधिक बात-चीत की जाती है। बात की जगह उन्हें गाली ही सुनाई जाती है। वे अब भी अछूत ही समझे जाते हैं सिर्फ गर्दन दबाने और पीटने के समय ही उनका स्पर्श किया जाता है। उनके पास अधिकतया जमीन नहीं है और सुधार की पहिली योजना इन हरिजनों के समूहों की सहयोग के आधार पर जमीन देने की होनी चाहिए ताकि वे सहयोग समिति से पट्टे पर जमीन ले सकें। जमीन का असली मालिक सहयोग समिति होनी चाहिये जिससे वे जमीन को साहूकार के हाथ में न जाने दें।

ऐसी योजना हम लोगों ने १९२९ ई० में कृष्णा जिले में बनाई थी किन्तु मद्रास सरकार के उस वक्त के मंत्रिमण्डल ने इसका विध्वंस कर दिया। जो जमीन पहले के वर्षों में अछूतों को दी गयी थी उसमें से अधिकांश उनके हाथ से निकल गई

है और सरकार इसमें कुछ दिलचम्पी नहीं रखती रही है। आज भारत में खेती करने वाली जमीन प्रति व्यक्ति आधे एकड़ हैं, और उनमें पैदा की हुई उपज लोगों की आवश्यकता के लिये काफी नहीं है। हरिजन किसानों को गांवों में वास्तव में गुलामी में दिन बिताते कहा जा सकता है जहां जरायम पेशा कानून लागू है उन जगहों में सिर्फ उनके शारीरिक हरकत पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। यह बात नहीं है कि अपने मालिकों की नौकरी खुश रहने वाले लोग नहीं है बल्कि जब कोई चारा नहीं होता तो अत्याचार की सहन शक्ति अनिवार्य हो जाती है। बस्ती के बहुत बढ़ जाने पर भी यह अभागे लोग शताब्दियों से रहने की थोड़ी जगहों में ही रहते आ रहे हैं इस लिए गांव की बस्ती फैलाई जानी चाहिये। उसमें और जमीन मिलाई जानी चाहिये और जहां सम्भव हो सवर्णों के बीच में हरिजनों के रहने की सुविधा उत्पन्न की जानी चाहिए। पृथक घर उसी प्रकार बुरे हैं जैसे पृथक स्कूल, छात्रावास, तालाब, और कुएँ वा निर्वाचनाधिकार। वे वास्तव में अस्पृश्यता को प्रोत्साहित करते हैं और उसे समाज के स्थाई रूप की भाँति स्थिर बनाते हैं। इन लोगों द्वारा आर्थिक अवनति जैसे अनुभव की जाती है वह वर्णनातीत है। उनकी स्थिति में यह आदर्श वाक्य अन्य सभों की अपेक्षा अधिक लागू है "संसार के श्रम-जीवियों, मिल जाओ, क्योंकि तुम्हारे पास खाने के लिये जंजीर छोड़ कर और कुछ भी नहीं हैं" एक गांव का हरिजन संसार में क्या चीज खो सकता है वास्तव में कुछ भी नहीं इसलिए जब कभी उसके पेट में आग लगती है वह डाका डालने वा अन्तिम साधन रूप में बगावत में भाग लेने में हिचकिचाहट नहीं करता।

एक राष्ट्रीय अन्याय का सुधार

अतएव हम लोगों का कर्तव्य हरिजनों को छूने से समाप्त

नहीं हो जाता। इस लिये हमें एक पग और आगे बढ़ना चाहिये और उन्हें एक परिवार के रूप में ग्रहण करना चाहिये तथा उनकी आर्थिक स्थिति का सुधार करने का उपाय करना चाहिये। उनको अपने भाई-बहिनों की तरह से समझिये और इस महान राष्ट्रीय सेवा-कार्य में जुट जाइये तब भारत की स्वाधीनता अन्य मार्गों की तरह शीघ्र ही प्राप्त होगी। महाराज ट्रावंकोर और लाथी के राजा द्वारा किया गया। उनके मन्दिर में प्रवेश कराने का महान सुधार भी आर्थिक क्षेत्र में उपेक्षा की न्यूनता पूरी नहीं कर सकता। हरिजन समस्या आत्म-संशोधन और साथ ही साथ सामाजिक सहायता की भावना का एक संयुक्त रूप है। यह इस रूप से बहुमुखी है कि इसके सम्बन्ध की समस्यायें उतनी ही आर्थिक हैं जितनी सामाजिक, उतनी ही नैतिक हैं जितनी धार्मिक, इसलिए हमें इस राष्ट्रीय अन्याय का प्रतिकार करना चाहिये और अपने भाइयों को अपने साथ नागरिक उन्नति और राजनीतिक स्वतंत्रता को ऊँचे दर्जे तक उठाना चाहिये। महात्मा गांधी कहते हैं कि 'अस्पृश्यता-निवारण हृदय के परिवर्तन धन के व्यय से नहीं होता वह चाहे जितनी चतुरता से किया गया हो परिवर्तन उस समय होगा जब हम लोगों के पास आत्म त्यागी आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले कार्यकर्त्ता होंगे। ऐसे व्यक्तियां के होने की ठोस जांच आर्थिक सहायता होगी क्योंकि हृदय के परिवर्तन का एक परिणाम हरिजनों में अनवरत कार्य होना चाहिये। पर्याप्त धन के बिना यह नहीं हो सकता। स्कूल और छात्रावास नहीं खोले जा सकते और न काफी धन के कुवें ही खोदे जा सकते हैं इसलिए मैं आशा करता हूं कि धनी और गरीब सभी द्वारा उनकी शक्ति के अनुसार यथेष्ट सहायता संघ को प्राप्त होगी।"—

—:o:—

अध्याय १५

ग्रामीण जीवन में साम्प्रदायिक द्वेष गहरा नहीं है

जन-सम्पर्क कार्य-क्रम स्वागत योग्य आन्दोलन है।

जो बात सबसे आसान मालूम पड़ती है, वही प्रायः पूरा करते समय सबसे कठिन निकल आती है। ऐसी आशा की जा सकती थी कि इस राष्ट्रीय विचारों के युग में योरप मानव-जगत के लिए एक आदर्श रूप होगा, और सभी विरोधी स्वार्थों का एक सामान्य एकता में सामंजस्य होगा, और सभी विरोधी भावनायें शान्ति में लीन कर दी जायंगी। उस समय शेष संसार को अपनी २ सीमाओं के अन्दर इसी प्रकार की भावना स्थापित करने और संसार भर में राष्ट्रीयता की भावना स्थापित करने में कोई कठिनाई न होगी। तथापि आज हम देखते हैं कि हम लोगों का देश अलग २ टुकड़ों में कर दिया गया है। तथा भूभाग के अनेक टुकड़ों, जाति के अनेक भेदों, और स्वार्थों को अनेक प्रतिस्पर्द्धाओं में विभाजित कर दिया गया है। इसका कारण यह नहीं है कि वह अनिवार्य है बल्कि यह कारण है कि एक विदेशी सरकार—जो अपने निवास-स्थान के छः हजार मील दूर के एक देश पर अधिकार जमाए हुए है—का साम्राज्यवाद की खोज में आजन रूप से अपनी शक्ति और स्थायित्व की रक्षा करना आवश्यक है। आप भारत के गावों में चाहे जहां जाइये वहां आपको दो सम्प्रदायों के अनुयायियों के बीच सामाजिक वा धार्मिक भेद चाहे जो मिलें किन्तु आर्थिक स्वार्थों की अभिन्नता तथा मुसलमान और हिन्दू तथा हिन्दुओं में ही सवर्ण तथा सवर्णों में ही ऊंच और नीच जातियों सरीखे

बिलकुल विरोधी सम्प्रादायों वा जातियों में बन्धुत्व की वह भावना और आर्थिक स्वार्थों की अभिन्नता दिखाई पड़ना एक विचित्र दृश्य है जिसे देख कर उन लोगों को आश्चर्य हो सकता है जिन्हें इस प्राचीन देश में यात्रा के लिये आने वाले योरोपिनियों द्वारा बताई यह बात ही अपने गले से उतारने का अवसर मिलता है. कि भारत एक महादेश है जिसमें प्रतिस्पर्द्धी धर्म हैं, विरोधी स्वार्थ हैं और कलह प्रिय विश्वास है। गांवों में हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे से मिलते और परस्पर मित्रता रखते हैं उन्हें इस बात का बिलकुल ध्यान नहीं होता कि एक की आस्था दूसरे की अस्था से बिलकुल भिन्न है।

धर्म उनमें से सबके लिये व्यक्तिगत चीज है और उसका पालन प्रत्येक आस्था में निहित सिद्धांतों पर पूर्ण भक्ति रख कर किया जाता है तथा सामाजिक और आर्थिक मामलों में ऐक्य का भाव रक्खा जाता है। यही नहीं बल्कि लोगों में स्वार्थों की अभिन्नता की भावना होती है। और लोग यह बात समझते हैं कि बाढ़ आने पर दोनों जातियों की समान रूप से ही भीषण हानि हो सकती है, तथा तूफान आने पर गांव के सब लोगों की एक समान ही हानि हो सकती है। जाति सम्प्रदाय, वा रंग का उसमें कोई भेद नहीं हो सकता, प्रकृति जब इस पृथ्वी पर रहने वाले लोगों पर अपनी उदारता की देन वितरित करती है, वा संसार के राष्ट्रों पर विपत्तियां डालती है वा प्रलय उपस्थित करती हैं जिसमें उनकी उदारता की देन बिखरी रहती है, तो वह किसी प्रकार का भेद नहीं रखतीं जब मनुष्य नागरिकों के मध्य ऐसी कृत्रिम दीवाल खड़ी करते हों तो यह क्यों कहना चाहिये कि भारत में आपस में ही फूट हो।

आपस की फूट

भारत में दो शताब्दियों तक अंग्रेजी शासन के बाद जिस मुख्य

बात से लोग प्रभावित हुए हैं वह यह है कि हम लोगों के राष्ट्र में आपस में ही फूट है। विदेशी शासन के द्वारा कृत्रिम उपायों से इस प्राचीन देश में जो भेद उत्पन्न कर दिये गए हैं उन पर अक्सर लोगों का ध्यान गया है, भारत का क्षेत्रफल तृतीयांश और जन-संख्या में चतुर्थांश अलग कर देशी राज्यों के रूप में कर दिया गया है, जिनके लिये खूब विज्ञापन किया जाता है कि वे स्वतंत्र इकाइयां हैं, ऐसे भू-भाग हैं जो इङ्गलैंड के सम्राट द्वारा संधि पत्रों सनदों और राजीनामों के द्वारा निश्चित संधिओं और मित्रता के सूत्र से बँधे हैं। यथार्थ में यह राजा सिर्फ कठपुतले हैं जो अपना राज्य ब्रिटेन के सम्राट की मर्जी पर ही पाये हुए हैं।

दूसरी ओर देश ग्यारह प्रान्तों में विभाजित किया गया है और बढ़ी धूर्तता से मताधिकार देने और निर्वाचन संगठित करने के इस प्रकार प्रयत्न किये गए हैं जिससे जनता का सच्चा मत फूट न निकले इस प्रकार देश को भू-भागों में विभाजित करने के बाद भारत को फिर जातियों में विभाजित किया गया है, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, हरिजन, इन सब का अलग निर्वाचन-क्षेत्र बना दिया गया है, और इनमें से हर एक, एक दूसरे के विरुद्ध अपनी-अपनी मांगें सामने रखने के लिये उत्तेजित किया जाता है, फिर देश को देहाती और शहराती रूप में विभाजित किया गया है, अब यह सब लोगों को मालूम है कि भारत की सरकार देहाती क्षेत्र के हितों की अपेक्षा शहराती क्षेत्रों के हितों का किस प्रकार अधिक संरक्षण करती है, तथा किस प्रकार देहाती हलकों की अपेक्षा शहराती हलकों में टैक्स लगाने की माप नीची और हलकी रक्खी गयी हैं।

कबूतर खाना

अन्ततः देश अप्रत्यक्ष रूप से भी अनेक टुकड़ों में विभाजित कर दिया गया है, जिन्हें मैदानी और एजेन्सी हलका कहा जाता

है, एजेन्सी हलकों में मुलकी स्वतंत्रता और मुल्की न्याय के कानून कायदे नहीं बर्त्ते जाते, वहां संक्षिप्त रूप का कायदा कानून बरता जाता है, वहां पर के लोग कुछ हद तक निरंकुश शासन के आधीन हैं, जो शायद एजेन्सी हल्कों की अपेक्षा मैदानी हल्कों में बहुत अधिक क्षीण हो गया है। इनके अतिरिक्त बगीचा लगाने वालों का दल, योरोपियन व्यापारिक स्वार्थों का दल, विश्व-विद्यालय तथा प्रत्येक जाति की स्त्रियों का एक पृथक क्षेत्र निर्वाचन में बना दिया है।

अतएव ये सब भेद भारत को एक प्रकार का कबूतर-खाना बना देते हैं जहां पर प्रत्येक खाने पर लेबिल लगा दी जाती है और टिकट लगाकर वह अलग टुकड़ा बना दिया जाता है. इस तरह पैंतीस करोड़ आदमी छांट छांट कर टुकड़ों में बांटे जाकर खानों में रख दिये गये हैं, ऐसे खाने जिनमें एक दूसरे में न हवा आ जा सके, न पानी आ जा सके, और न विचार आ जा सके—और उन्हें यह अनुभव करने के लिए यह उत्साहित किया जाता है कि वे विचार, भावनाओं, और आकांक्षाओं में एक दूसरे से बिल्कुल पृथक हैं।

साम्प्रदायिक चेतना

देश को विभिन्न टुकड़ों में बांट देने के सम्बन्ध की यही उत्पत्ति कथा और कार्य-प्रणाली हैं, और तब हम लोगों से कहा जाता है कि यह देश एक राष्ट्र नहीं हो सकता क्योंकि लोग दो सौ भाषायें बोलते हैं, अनेक धर्मों के अनुयायी हैं और उनमें हजारों मत मतान्तर हैं। पवित्र रूप से कथित और छल पूर्वक अपने शासकों द्वारा प्रचारित इसी बयान को हम लोग मानते आये हैं। और हम केवल मौन ही नहीं रहते आए हैं बल्कि हम इस आन्तरिक भेद की भावना के आधीन अपनी असहाय अवस्था भी अनुभव करते आए हैं। सचमुच ही इन भेदों का उस

समय तक देश के राजनैतिक जीवन में कोई भाग नहीं था जब तक धारा-सभाओं में निर्वाचित सदस्यों की संख्या गौण रूप की थी। सन् १८६३ ई० में पहले पहल भारत की प्रान्तीय और केन्द्रीय दोनों धारा-सभाओं में निर्वाचित सदस्यों के लिए जाने की व्यवस्था हुई। उस समय तक उसमें केवल नामजद सरकार और गैर सरकारी सदस्य ही होते थे। किन्तु जब १८६३ ई० के निर्वाचित सदस्यों की संख्या (मद्रास में ७) बढ़ा कर २८ की जाने लगी तो साम्प्रदायिक चेतना जागृत हुई। वास्तव में यह एक मुख्य कारण था जिससे बङ्गाल को १६०५ ई० में दो प्रान्तों में विभाजित किया गया और उस समय तक अंग्रेजों द्वारा हिन्दुओं को प्रश्रय दिया जाता था किन्तु जब उन्होंने देखा कि भारत में लाखों हिन्दुओं में राष्ट्रीय भावना व्याप्त होने लगी है तो प्रगति के पहिये में रोक लगाना सुरक्षित समझा गया और पूर्वी बङ्गाल में एक मुसल्मानी प्रांत की स्थापना की गई। बङ्ग-भङ्ग के इस अन्याय का १६११ से सुधार किया गया, किन्तु जातियों के मस्तिष्क में यह पुष्ट भावना जागृत ही रही। एक बार जो कड़आहट पैदा कर दी गई थी वह लोगों के हृदय के क्रोध और प्रतिहिंसा की भावना की शह पाकर बढ़ने लगी और १६०८ में प्रारम्भ होने के बाद से हम हिन्दू मुसलमानों के झगड़ों का दृश्य देखते आ रहे हैं जो भारतीय सासन-प्रणाली के विकास के चित्र को धुंधला कर रहे हैं।

एक दुःख-पूर्ण कहानी

फिर भी लोग समय पर ही जाग उठे और इस भूल का सुधार करने के लिये १९०६ में उपाय किया किन्तु संयुक्त निर्वाचन के स्थान पर १६१६ के लखनऊ के हिन्दू-मुसलिम समझौते में पृथक निर्वाचन के समझौते को मानना पड़ा जिसकी भावना एक बार जड़ जमा चुकी थी। उस समय से पृथकता ही सब वार्तालापों का आधार बनती आई है किन्तु जब सन् १६२१

ई० में खिलाफ़त आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो कुछ समय के लिए सभी भेदों को भुला दिया गया यद्यपि खिलाफत के मिटाने और खलीफा के अधिकारों को टर्की, खलीफाओं की जन्म-भूमि, द्वारा ही अस्वीकार कर दिये जाने पर एकता की यह भावना एक बारगी ही मिट गई और उसकी जगह परस्पर विद्वेष की गहरी भावना खूब जोर से उठ खड़ी हुई, जो एक प्रबल भावना के भार के नीचे दबा दी गई थी। १९२४ से हिन्दू मुसलमानों के भेद की दुःख पूर्ण कहानी अभी तक चली आ रही है कभी जोरदार झगड़े के रूप में वह उठ जाती थी और कभी यह प्रतिस्पर्द्धि की दबी हुई भावना की रूप में रह जाती थी। किन्तु लोग सुगमतया यह बात देख सकने में समर्थ हुए कि यह प्रतिस्पर्द्धायें, संघर्ष और झगड़े अंग्रेजी शिक्षित वर्ग द्वारा ही उत्पन्न किये गये थे जो अपनी निजी व्यक्तिगत उन्नति के लिए लड़ रहे थे, न कि पूर्ण जाति के राष्ट्रीय उत्थान के लिये। कांग्रेस १९३१ में ही इस मामले के सत्य को ही सरलतया समझ सकने में समर्थ हुई। दूसरी गोल मेज सभा से महात्मा गान्धी ज्यों ही लौटे और कार्यकारिणी समिति के अपने सह-योगियों के सामने उन्होंने जो अपना पहला बयान दिया वह यह था कि भारतीय शासन-प्रणाली सम्बन्ध की उन्नति या भविष्य में समझौते की बात हिन्दू-मुसलिम एकता पर आधारित होनी चाहिये और यह कि जहां वे गोलमेज सभा में अनेक मतभेदों के लिये तैयार थे जहाँ वे उन दुःख-पूर्ण बातों को नहीं देखना चाहते थे जो उन्होंने लन्दन में एक ओर हिन्दू और मुसलमानों के बीच तथा दूसरी ओर कांग्रेस और नरम दल वालों के बीच देखा।

उन्होंने कहाकि एक वस्तु का दृश्य उसकी वास्तविकता से बिलकुल भिन्न होता है, और यह कि कड़वाहट की वास्तविकता, द्वेष और असम्भव भावनायें जिस रूप में द्वितीय गोलमेज

सभा में दिखलाई गई उन्होंने देश की आंख खोलकर यह महत्व-पूर्ण बात बतला दी कि इस देश में ऐसे लोग भी हैं जो भविष्य के आगे वर्तमान को दबा सकते हैं तथा साम्प्रदायिक बातों के आगे राष्ट्रीय बातों को तुच्छ समझ सकते हैं और सुविधा-जनक बातों के आगे सिद्धांत को धता बता सकते हैं।

जन-सम्पर्क

इसके अनुसार एक नए आन्दोलन का सूत्रपात हुआ है जिससे जनता से कांग्रेस का सम्पर्क स्थापित किया जा सके। कांग्रेस पहले उच्च वर्ग के आन्दोलन रूप में स्थापित हुई थी जो निस्संदेह नीचे के वर्गों और देहाती जनता के प्रति अपने कर्तव्य का पालन इस महान आन्दोलन के जन्म काल ही से कर रहे थे किन्तु यह मध्य श्रेणी के लोगों का आन्दोलन हो गया जिसमें कुछ अँग्रेजी शिक्षित लोग सम्मिलित थे और अन्त में १९२१ई० में यह जनता का आन्दोलन हो गया। जब से कि महात्मा गांधी का राजनैतिक क्षेत्र में आगमन हुआ है। फिर भी इसमें कुछ भूलें थीं और यह कमी थी कि एक सड़क पर का मामूली आदमी कांग्रेस में राष्ट्रीय महासभा के अखण्ड बुद्धिमान और मुख्य रूप से सहायक रूप में ग्रहण नहीं कर लिया जाता था किन्तु जन-सम्पर्क बढ़ाने का कार्य बड़ी तत्परता से किया जा रहा है। जन-सम्पर्क में हिन्दू और मुसलमान जनता दोनों सम्मिलित हैं इसलिए उस शब्द में मुसल्मान जनता के साथ सम्पर्क बढ़ाने की भावना भी निहित है। इस प्रकार हिन्दू-मुसल्सान समझौते का गुरुत्व केन्द्र सुसंस्कृत और अँग्रेजी शिक्षित मुसल्मान जनता से हट कर विशाल निष्कपट मुसल्मान जनता पर चला गया है, जो कस्बों और गांवों में रहती हैं और परिश्रम के क्षेत्र में अपने हिंदू भाइयों से मिल-जुल कर रहती हैं।

यह कुछ अंश तक आशाजनक सिद्ध हुआ है । हम आशा से परे आशाजनक नहीं कहते, क्योंकि यह आशा बराबर की जाती थी कि देहाती कृषक और उद्योग-धन्धों के जीवन के निचली तह में अधिक गहराई में हिन्दू मुसलमानों के बीच विरोध भावना नहीं है । शीघ्र ही हम आशा कर सकते हैं कि मुसलमान जनता राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिक सम्पर्क में आयेगी और इस संस्था को देश के भिन्न-भिन्न स्वार्थों का वास्तव में उससे भी बहुत अधिक प्रतिनिधित्व करने वाली बनाएगी जितना कदाचित् आज कर रही है । जब वह निकट भविष्य की ही दैवी घड़ी आ पहुँची रहेगी तब हम अच्छी तरह कह सकेंगे कि भारत अपने पुरुषत्व को पुनः प्राप्त कर चुका रहेगा और अपनी पूर्ण स्वतंत्रता का अधिकार जता सकने में ऐसे ढङ्ग से समर्थ होगा, जो भीख मांगने की नीति न होगी, रुक २ कर चालों की न होगी उन काम में आने वाले सुधारों के कार्यक्रम द्वारा भी न होगी जिसे इससे रद्द कर देने का निश्चय किया है बल्कि विदेशी शासकों को पुकार कर कहेगी कि खड़े हो और मालमता को उचित मालिकों, हिन्दुओं मुसलमानों, सिक्खों, पारसियों और हरिजनों के हवाले करो जो एक भारतीय नाम से पुकारे जायेंगे ।

अध्याय १६

राष्ट्रीय शिक्षा

राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने राष्ट्रीय कार्यक्रम में १९०५ ई० में ही जिस विषय को महत्वपूर्ण स्थान दिया वह राष्ट्रीय शिक्षा थी जिसका अर्थ 'राष्ट्रीय भाग्य-निर्माण की ओर निर्देशित, राष्ट्रीय नियंत्रण में, राष्ट्रीय ढंग से दी हुई शिक्षा" थी। यह परिभाषा थी जिसे कांग्रेस ने कलकता में १९०६ के कांग्रेस अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में स्वीकार किया। पूर्वी बंगाल में हाई स्कूल खुले, पञ्जाब, बंगाल, महाराष्ट्र और दक्षिणी भारत में राष्ट्रीय संस्थाएं खुलीं। राष्ट्रीय शिक्षा के लिये देश भर में संस्थाओं का जाल बिछाया गया। ये संस्थायें विश्वविद्यालयों से संबद्ध नहीं थीं और न इन्हें समय की सरकार ही मान्य करती थी। इस आन्दोलन के इतिहास में १९०७ तक बीच में शिथिलता आ गई जब कि एनो बीसेन्ट के अभ्युदय ने इस आन्दोलन में जान डाला। एक बार फिर सोसाइटी फार दी प्रोमोशन आफ नेशनल एजुकेशन (राष्ट्रीय शिक्षा प्रसार समिति) नाम की एक समिति की ओर से राष्ट्रीय शिक्षा का झंडा ऊँचा किया गया और इस समिति में बहुत से नवयुवक जुटे। यह आन्दोलन १९१९ में शिथिल हो गया। १९२१ में असहयोग आन्दोलन के जन्म ने इस आन्दोलन को पुनर्जन्म दिया। तिहरे बहिष्कार आन्दोलन में स्कूल और कालेजों का बहिष्कार भी एक होने के कारण राष्ट्रीय शिक्षा का फिर जोर हुआ।

उस समय से देश में महान परिवर्तन उपस्थित हुये हैं। प्रान्तों में नया शासन विधान स्थापित होने से कांग्रेस ने नौ प्रांतों में मंत्रिमंडल बना लिया था, जिससे उनके हाथ में उतनी शक्ति

आ गई थी जो कुछ शासन-विधान द्वारा प्रांतीय सरकारों को मिली थी। उस समय प्रश्न होने लगा था कि अब राष्ट्रीय शिक्षा का अर्थ क्या है, और कांग्रेसी मंत्रियों के होने पर राष्ट्रीय शिक्षा का प्रश्न उठाने का क्या अभिप्राय हो सकता था। बात ठीक थी। किन्तु मंत्रियों का अधिकार सीमित था। मंत्री केवल दफ्तर में बैठते थे। उन्हें पूरा अधिकार नहीं था। वास्तविक अधिकार विभागों के प्रधानों के हाथ में था जो पूरी तरह व आंशिक रूप से अनुशासन मानने के लिए तैयार नहीं थे, और न उन मनोवेगों तथा स्फूर्तियों में भाग लेते थे, जिनमें मंत्री अनुप्रेरित हो रहे थे। हम उस समय भी उस घोड़े की तरह घूम रहे थे जो एक गोलाई में फेरा लगाता हो लेकिन एक कदम भी आगे न जाता हो। मंत्री प्रारम्भ से लेकर स्कूल के अन्त तक मातृ-भाषा द्वारा शिक्षण की व्यवस्था करने में समर्थ न हो सके, परीक्षाओं के लिए चाह उतनी ही बनी रही जो हमें कहीं भी नहीं पहुँचती, और युवकों को केवल बेकारी के लिए प्रमाण-पत्र देती है, और जो उस पवित्र विश्वास के साथ प्राप्त की जा रही है, जिसका उपयोग किसी ऊँचे उद्देश्य के लिए होना चाहियें, और इसी शिक्षा के पीछे अध्यापक, शिष्य, तथा माता पिता मतवाले हो रहे थे।

जान बूझ कर बहुत खर्च कर बेकारी उत्पन्न कर हम जोर शोर से शोर मचाते हैं कि देश बेकारी से तबाह हो रहा है। नवयुवक के हृदय का आकर्षण आज विश्व-विद्यालयों की शिक्षा की ओर है जो उद्योग-धंधा, शिल्प वा व्यापार की तरफ होना चाहिये जिससे वे प्रतिष्ठा-पूर्वक जीवन-निर्वाह कर सकें। किन्तु फिर प्रश्न उठता है कि कौन से उद्योग, पेशे वा व्यापार के लिए बच्चों को तैयार किया जाय। अंततः देश के युवकों के लिये राष्ट्रीय शिक्षा की यही समस्या है जिस प्रकार देश के नागरिकों के लिये राष्ट्रोद्धार की समस्या है। जब तक पूर्ण स्वतंत्रता न प्राप्त

हो, तब तक राष्ट्रीय समृद्धि के लिये आवश्यक व्यापारिक, औद्योगिक और शिल्प विज्ञान सम्बन्धी विशेष सुविधाओं के उपयोग का पूर्ण क्षेत्र नहीं मिल सकता दूसरे शब्दों में जब तक देश औद्योगिक और व्यापारिक संरक्षणों के बिना पूर्ण स्वशासित नहीं हो जाता, जब तक भारत में पूर्ण स्वराज नहीं स्थापित हो जाता तब तक भारत की सम्पत्ति के संचय और देश के कल्याण की वृद्धि की समस्यायें जो राष्ट्रीय शिक्षा के लक्ष्य हैं, लाभप्रद रूप में सब रूपों में सुलझायी नहीं जा सकतीं।

फिर भी हमारे उद्योग एक साथ ही ऐसे होने चाहिए जिसमें एक ओर विदेशी शासन के जुए से देश का उद्धार करने का प्रयत्न किया जाय और दूसरी ओर विदेशी व्यापार और विदेशी उद्योग-धन्धे के बंधन को काटा जाय। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये हमें अपने युवकों के हृदय में ऐसी संस्कृति की उत्कंठा उत्पन्न करनी चाहिये जो देशी हो तथा ऐसी कला और शिल्प का प्रेम उत्पन्न करना चाहिये जो देश के वैभव की वृद्धि करने में सहायक हो। यही राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या की कुंजी है। भारत के ब्रिटेन द्वारा आधिपत्य में वास्तविक बखेड़ा यही है जो केवल राजनीतिक ही नहीं है बल्कि व्यापारिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भी है। यह अंग्रेजों के लाभ की बात थी कि नवयुवक हृदय को अपने नमूने के सांचे में ढाला और ब्रिटिश-पक्षपाती ढङ्ग के नमूने तैयार किये।

इस दृष्टि से देश के युवकों को अंग्रेजी की शिक्षा, अंग्रेजी उपाधि पत्र, प्रशंसापत्र, पदवी, उच्च पद, और पेशनों में खुश रहना सिखाया गया है। उन्हें अंगरेजी भाषा में बात-चीत करने, घर पर अंगरेजी में ही चिट्ठी लिखने और विवाह का निमंत्रण पत्र भी अंग्रेजी में भेजने में प्रसन्नता का अनुभव करना भी सिखाया गया है। विजेताओं की भाषा की इस चाह ने—वह

भाषा जो कालेजों और धारा-सभाओं में प्रयुक्त होती है, तथा जिस भाषा में सभी सरकारी नियमों के आज्ञा-पत्र निकलते हैं तथा एक दूसरे से बात-चीत भी अंग्रेजी में ही करने के प्रचंड उत्साह ने सभी श्रेणी और वर्ग के लोगों पर अधिकार जमा लिया है और वह संस्कृति का चिन्ह तथा पहचान मानी जाने लगी। अपने मित्रों को धारा सभाओं, कचहरियों और कालेजों में अपनी मातृभाषा में बातचीत करने के लिये प्रेरित कर सकना हम लोगों के लिये कठिन ही रहा है। हम लोग इस बात के लिये दलील देते हैं कि विश्वविद्यालयों की शिक्षा मातृभाषा में माध्यम द्वारा हो सकती है, तथा प्रांतों का विभाजन भाषा के अनुसार होना चाहिये, तथा कचहरियों की कार्यवाही मुवक्किलों की समझ में आने वाली भाषा में होने से देश में न्याय की व्यवस्था अधिक सुचारु रूप से हो सकती है यह बात हम लोगों को अखरती नहीं कि इन कामों में विदेशी भाषा का प्रयोग क्यों किया जा रहा है ?

जहां तक भाषा का सम्बंध है वहाँ पर जहाँ ऐसी स्थिति है, वहाँ संस्कृति के क्षेत्र में स्थिति और भी खराब है। हमें यह विश्वास करने की शिक्षा दी गई है कि हमारे देश में चित्रकला नहीं थी, कला का अस्तित्व नहीं था तथा ज्ञान पश्चिम से ही प्राप्त हो सकता है, पूर्व से नहीं। यथार्थवादी शैली में वस्तुओं के अंकित करने प्रवृत्ति आध्यात्मिक कला की प्रवृत्ति को निस्तेज कर रही है। देश में स्थापत्य में भारी परिवर्तन हुआ है। जिस प्राचीन शैली ने जयपुर, उदयपुर दिल्ली, आगरा, बीजापुर, औरङ्गाबाद, तंजौर और मदुरा सरीखे नगरों को सौंदर्य प्रदान करने में योग दिया था, उसका लोप हो गया है, और उसे तुच्छ समझा जाता है। प्राचीन मंदिरों के स्थापत्य, तक्षण शिल्प और चित्र कला का अध्ययन नहीं किया जाता। बल्कि उनकी

उपेक्षा की जाती है। कांग्रेसी मंत्रियों ने भी इन तक्षण शिल्पों के प्रचार के लिये पांच हजार रुपये तक भी व्यय करना उचित नहीं समझा। तञ्जौर के पुस्तकालय में ही जो हस्तलिखित ग्रन्थ हैं, जो शताब्दियों की उपेक्षा के पश्चात् विनष्ट होते जा सकते हैं, उनका कब पुनरुद्धार होगा, इसका कुछ पता नहीं। इन सब पाण्डुलिपियों की शुद्ध प्रतिलिति करने में भारी और प्रबल उद्योग की आवश्यकता होगी जिससे गलते हुए कागज और ताड़ पत्रों का कूड़ा दिखाई पड़ने वाली हस्तलिखित पुस्तकों में छिपे हुए ज्ञान-भंडार को जनता तक पहुँचाया जा सके।

आप जहाँ भी जाइये आपको प्राचीन शिल्प की श्रेष्ठता और गौरव समय वा विदेशियों के कला-साहित्य के विध्वंस कार्य के अक्षुण्ण और अप्रभावित मिलेगी। हम कहां से प्रारम्भ करेंगे? इन अद्भुत कार्यों का अध्ययन कहाँ समाप्त करेंगे? प्राचीन आदर्शवाद की ये विशाल कीर्ति-स्तम्भ जो पत्थर और ईंटों के बने हुये हैं, शताब्दियों अनवरत परिश्रम कर निर्मित किये गये हैं। कुलशेखर मंडप से और त्रिवेन्द्रम के मंदिरों की छतों में बने हुये अब धुंधले मात्र बचे हुये चित्रों से प्रारम्भ कर मदुरा के विशाल स्थापत्य और तजौर के अपूर्व कमनीय भास्कर शिल्प को देख कर और वहां से हेलीबीडी और बेलूर जाकर जहां पत्थर का काम देश को एक महान विस्मयजनक वस्तु है, भोजदोन के सोने चांदी के तार की बारीकी कामों की याद कर और तंजोर, मैसूर, लोपाक्षी, वेलूर तथा हैलीबीडी के बने भव्य नन्दी का तुलनात्मक अध्ययन कर हम चकित हो जाते हैं कि इन कामों को पूरा करने में कितना समय लगा होगा और उनके बनवाने में कितना अधिक धन व्यय हुआ होगा।

लेपाक्षी में मंदिर की छत भव्य चित्रकारी से भरी है जो चार या पांच सौ वर्ष पुरानी हो जाने पर भी अक्षुण्ण रूप से

संरक्षित हैं और जिनमें राजाओं और संतों के जीवन के अत्यधिक प्रभावशाली दृश्य रंग और रूप अंकित किये गये हैं। इनके अतिरिक्त लेपाक्षी के स्तम्भ वास्तु कला के अलौकिक नमूने हैं जो विशाल आकार के हैं और जमीन पर के नाचते हुये खंभों पर आधारित हुये बिना ही छत से लटके हुए हैं। ताड़पत्री और पेनुगोंणा मंदिरों से भरे हुये हैं जो उस परिश्रम और व्यय के प्रमाण हैं जो किसी समय कला और स्थापत्य में अवश्य ही लगाया गया होगा और वे अपेक्षाकृत उस विध्वंस का भी परिचय देते हैं जिसमें वे आज के अधिकारियों द्वारा असभ्य उपेक्षा के कारण हाल के समय में पड़े हुये हैं। कल्पना का साहस, कार्य-निर्वाह की विशदता, तथासूक्ष्म रचना का गंभीर प्रेम और कारीगरी की सर्वोच्च पवित्रता, शक्ति और व्यंजकता स्थापत्य सबंधी सौन्दर्य के साथ वैज्ञानिक कौतूहल का संयोग तथा मंदिरों के मानव नेत्रों को सूझ न पड़ सकने वाले अत्यधिक अंधेरे कोनों में अत्यधिक भव्य, चित्रकला और भास्कर शिल्प के लिये इन विभिन्न संस्थाओं को भारत में प्रथम स्थान प्राप्त है।

वेलूर और हैलीबीडी में मंडपों के प्रस्तर-स्तरों को केवल एक भीगे कपड़े से गीला कर देने की आवश्यकता है जिसके वे चारो ओर की वस्तुओं की प्रतिबिम्बित (reflected) और विवर्तित (refracted) करने का अत्यधिक विचित्र दृश्य उपस्थित करती हैं एक में का देखा हुआ प्रतिबिम्ब (reflaction) और विवर्तन (refraction) दूसरे में देखे हुये से बिलकुल भिन्न होता है। मंदिर के अंदर जो घना अंधकारमय है, विदर्भ स्वामी की मूर्ति एक बहुत प्रचंड बिजुली बत्ती के प्रकाश में ही देखी जा सकती है वह भी केवल कुछ भाग ही, क्योंकि एक सिरे से दूसरे सिरे तक वह ३० फीट लम्बी है। पश्चिम की ओर बढ़ते आने पर हम बीजापुर पहुंचाते हैं जहां पर

मनोहर गुम्बज तथा मन्दस्वर में वार्तालाप करने वाला छज्जा है और बादामी और उंदवल्ली की गुफाओं में पहुंचते हैं जिनका हाल में ही अनुसंधान हुआ है हैदराबाद में वारंगल के मंदिर का भव्य स्थापत्य और एलोरा तथा अजंता की गुफायें तथा रचना जिनके आधिपत्य का सौभाग्य निजाम सरकार को प्राप्त थी तथा सब के अतिरिक्त एलीफंटा की गुफायें जिनका सौष्ठव कल्पनातीत है, दर्शनीय है अजंता की २७ गुफाओं पर विचार कीजिये जिनके तैयार करने में शताब्दियां लगी होंगी, और बताइये कि कौन कल्पना कर सकता है कि इनके निर्माण में कितना धन व्यय किया गया होगा! धन का विचार नहीं रक्खा जाता था। उस सेवा-कार्य की कल्पना कीजिये जो इसमें लगाया गया होगा। कलाकार और शिल्पकार योजनाओं और तख़मीनों, टेंडर और ठेकों, तथा रुपये के निश्चित पावने और निश्चित समय में काम कर देने की प्रतिज्ञा द्वारा अपना कार्य नहीं करते थे। वे अपनी आत्मा को संगीत, पत्थर और रंग में उड़ेल देते थे और तब अपने कार्य की पूर्ति में आह्लाद का अनुभव करते थे। वे प्राचीन काल में अपनी निजी आत्मानुभूति लक्ष्य रखते थे, न कि धन संग्रह करने का ज्ञान विक्रय की सामग्री नहीं था। पुस्तकें व्यापार की सामग्री नहीं थीं। संस्कृति और विद्वत्ता की प्राप्ति के लिये धन की प्राप्ति आकर्षण नहीं था।

उत्तर की ओर बढ़ने पर हम अहमदनगर पहुंचते हैं जहां मस्जिद के कांपने वाले बुर्जों को देखकर चकित रह जाना पड़ता है। इन बुर्जों में से एक तोड़ दिया गया था और गवेषणा करने वाले ब्रिटिश इंजिनियरों द्वारा पुनः निर्मित किया गया था किन्तु कंपकंपाहट उसमें नहीं रह गई। अहमदाबाद में और भी अद्भुत वस्तुयें हैं। वहाँ का कुआं स्वयं ही एक चमत्कार है। मैसूर में श्रवणबेलगुला की गोमतेश्वर की प्रस्तर-निर्मित विशाल मूर्तियां

केवल अद्भुत वस्तुयें ही नहीं हैं बल्कि अलौकिक हैं। अंत में आगरा और दिल्ली के महलों की शोभा के पास पहुंचते हैं ताज महल की भव्यता, रुचि की कामनीयता सूक्ष्म रचना को सावधानी, उसमें लगे हुये श्रम और उसके मूलमें स्थिति कल्पना इसके रहस्यों का उद्घाटन करने के सभी प्रयासों को विचलित कर देती है। इसका प्रतिद्वन्दी हमें केवल अजंता में मिल सकता है जो विस्तृत घुमाओं और दीर्घ मेहराबों सहित निर्मित किया गया है और जिसकी शोभा और विस्तार का देश भरमें कहीं जोड़ नहीं है। पूर्व की ओर जाने पर हम जगन्नाथ, और भुवनेश्वर और कनरक के मन्दिरों को देखते हैं जो अपने ही अनुरूप हैं।

इस विद्या का किस प्रकार जन्म हुआ था ? इन सब की प्रेरणा कहां से मिलती थी ? वे विद्वान कहां हैं जिन्होंने इनकी योजना तैयार की, वे शिल्पकार कहां हैं जिन्होंने इन योजनाओं को कार्यान्वित किया ? इन सब बातों का अध्ययन यथार्थ राष्ट्रीय शिक्षा के कार्यक्रम का विषय है। यही अद्भुत बातें हम चिकित्सा चित्रकला, काव्य और नाटक के क्षेत्र में देखते हैं, हम लोगों की नाट्य कला अँग्रेजी नाटय कला की अपेक्षा कम से कम आठ सौ वर्ष पुरानी है। चिकित्सा और शल्य विज्ञान के क्षेत्र में हमारे पूर्वजों ने हजारों वर्ष पहले इतनी अधिक प्रवीणता प्राप्त कर ली थी जितनी पाश्चात्य विद्वानों और वैज्ञानिकों को केवल छः दशक पहले प्राप्त किया है। वास्तु-विद्या, चिकित्सा, कानून तथा साहित्य के इन विभिन्न विभागों की कला और विज्ञान के रहस्यों का हमें उद्घाटन करना पड़ेगा। यही वास्तविक राष्ट्रीय शिक्षा होगी। राष्ट्रीय विद्यापीठ के स्नातकों के रूप में जीवन में हम लोगों का कर्तव्य केवल उन धंधों का करना नहीं होगा, जिन के लिये हमने प्रमाण-पत्र प्राप्त किया है, बल्कि ज्ञान और विद्या के उन क्षेत्रों का अनुसंधान करना होगा जिन्होंने प्राचीन काल में

बहुत उच्च कोटि की श्रेष्ठता प्राप्त कर ली थी किन्तु कुछ ही शताब्दियों पहले जिनकी उन्नति अवरुद्ध हो गई, विदेशी आधिपत्य के अन्दर कोई देश राजकीय व सरकारी संरक्षण के अभाव के कारण संस्कृति और सामाजिक नियम की कला और नागरिक संस्थाओं के क्षेत्र में उतना ही अवनत होता है जितना विशुद्ध राजनीति के क्षेत्र में।

राजा केवल ऐश्वर्य और भोग विलास की प्रतिमूर्ति नहीं होता। और न कानून तथा व्यवस्था के लिये सावधान मात्र होता है। बल्कि समाज का प्रधान होता है। तथा प्रथा और परम्परा पर आधारित मामलों पर लोगों का उपदेशक तथा परामर्शदाता होता है। जहां पर प्रथायें अटल हो जाती हैं वहां उन्नति रुक जाती है। विदेशी शासकों के आधीन केवल प्रथानुसार कानून में ही यह बाधा नहीं उठानी पड़ी है बल्कि समाज की परम्परा और अधिकार में हस्तक्षेप करने की शासकों की अनिच्छा के कारण अनेक सामाजिक मामलों में भी उठानी पड़ी है यदि लोकमत की प्राचीन प्रतिमूर्ति के अस्तित्व का बिलकुल लोप नहीं हो गया है तो कम से कम वह भूतकाल का केवल चिन्ह अवश्य रह गई है, इस प्रकार प्रथा निर्जीव बन गई है। और ज्ञान तथा विद्वत्ता गतहीन हो गए हैं, विदेशी सभ्यता के आगमन से केवल नई नफासत और नई शैलियां नहीं प्रचलित होती हैं बल्कि प्राचीन ज्ञान उपहास की वस्तु बन जाता है। और वह पक्षपात तथा अवगुण तक शिकार बना दिया जाता है। ज्ञान विद्वत्ता तथा गवेषणा की धाराओं के साथ जो नाला शताब्दियों तक बहता आ रहा होता है उसमें प्रतिरोधी और प्रतिकूल धाराओं के प्रवाह से टक्कर खाने के कारण उसमें अचानक बाधा उपस्थित होती है, जिसका परिणाम यह होता है कि उनकी प्रगति ही नहीं रुक जाती वे सूख जाते हैं और

वर्षों की जमा मैल और कूड़े करकट से भर जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम कूड़ा-करकट उखाड़ फेंकें और यह पता लगावें कि प्राचीन प्रवाह में उन्नति किस सीमा तक अनवरुद्ध गति से हो सकी थी, तथा उस दरजे तक उन्नति किन साधनों से हुई थी।

प्रोफेसर वाल्टर रेले के कथनानुसार विश्वविद्यालय ज्ञान के विरासत की रक्षा करने वाली एक संस्था है, यह सभी मुख्य धारणाओं को फिर से हाथ में लेती है और उनका संशोधन करती है, यह प्रारम्भ से आरम्भ करती है और नींव से ही निर्माण करती है, यह पुरानी जमीन को उलट कर नई फसल पैदा करती है, यह अज्ञान की सीमा पर सजग रहती है।

उन्नति के ऐसे कार्यों में अज्ञानता और विहित स्वार्थ दोनों से बाधा पहुंचाती है। जहां पर विश्वविद्यालयों ने परीक्षा को ही जीवन का सब कुछ लक्षण और अभिप्राय बना दिया है, वहां अधिकारियों शिक्षानीतिज्ञों तथा व्यवसायी व्यक्तियों की शिक्षा की व्यर्थता और शिक्षा की प्रचलित प्रणाली के अनिष्टों के संबन्ध में जहां तहां की स्वीकारोक्ति ने उनके अत्याचारों से मुक्ति दिलाने में सफलता नहीं प्राप्त की है। बालक अज्ञान के कारण माता पिता आलस्य के कारण तथा अध्यापक के आत्म-संरक्षकता के कारण उनका अनुसरण करते हैं। जो मंत्रि शिक्षा विभाग के सम्बन्ध के रहे होंगे वे स्वयं इस विषाक्त प्रणाली की उपज होंगे और सभी उन्नतियों के विपक्ष रहने वाली असंस्कृति के प्रभावाधीन होंगे।

आधुनिक विचारों और आधुनिक संस्कृति के धक्के ने अब तक देश के विचारशील नेताओं को अराष्ट्रीय ही बनाया है जिसके कारण वे इस प्रारंभिक बल्कि सभी उन्नतियों के लिये आवश्यक नियम को समझ सकने में असमर्थ रहे हैं कि किसी

राष्ट्र की सभ्यता भूत वर्तमान और भविष्य सभी संस्कृतियों की एक अविच्छिन्न धारा है और प्रत्येक राष्ट्र भूतकाल से वर्तमान होकर भविष्य की ओर प्रगतिशील होता है। भूत वर्तमान काल में विद्यमान होता है और वर्तमान भविष्य को प्रवेश करता है, हमारे सभी आचार और नीति शास्त्र केवल विभिन्न युगों के मिश्रण हैं अनेक दिशाओं में क्रियाशील अनेक शक्तियों के लब्ध फल हैं, यही तक हम लोगों की सभ्यता को केवल भूत और वर्तमान का ही नहीं बल्कि पूर्व और पश्चिम का भी मिश्रण बनाएगा। एक ऐसे युग में जहाँ राष्ट्रों के बीच में केवल व्यापारिक ही सम्बन्ध नहीं हैं बल्कि साँस्कृतिक भी हैं उस समय की सभ्यता बहुरूपवर्ती और बहुमुखी होनी चाहिए, जिसके प्रत्येक रूप और मुख्य २ संस्कृतियों के स्फुलिङ्ग निस्सृत हों, जिनसे पूरे मिश्रण की रचना हो।

स्वभावतया आज-कल के नेता अब भी अपनी नई संस्कृति की चकाचौंध में हैं, कि जिससे उनको वैसा बनाया है, जैसे वे हैं। और जब तक उनका मस्तिष्क उचित रूप से विकसित न हो जाय राष्ट्रीय संस्थाओं को उन्हें सभी कृत्रिम प्रकाशों से दूर रह कर, अपनी राष्ट्रीयता कार्य करते जाना चाहिये, और उन्हें अन्तर्दृष्टि की तीव्र दीप-शिखा को इस आशा में प्रदीप्त रखना चाहिये कि वह दिन दूर नहीं है जब कि वह प्रकाश जिसने उन्हें वैभव और पराभव काल में मार्ग-प्रदर्शित किया है. राष्ट्र के मार्ग को राष्ट्रीय भाग्य-निर्माण की प्रगति में आलोकित कर सकता है।

———

अध्याय १७

ग्रामोद्धार

यह क्या है, क्या नहीं है?

ग्राम-सुधार के प्रेमी उत्साही नवयुवक प्रायः ग्रामोद्धार की समस्याओं के सम्बन्ध में सलाह और तजवीज पूछते हैं। इस समस्या का रूप और उसकी स्थिति ऐसी बातें हैं जिनका गम्भीरता पूर्वक अध्ययन की आवश्यकता है जिससे इसके हल के सिद्धान्त ठोक रूप से उसी प्रकार ग्रहण किये जा सकें जिस प्रकार ठीक तरह इलाज करने के लिए रोग की जड़ पकड़ी जाती है।

हम लोगों के गांवों में क्या खराबी आ गई है? निश्चय ही आज गांव के लोगों को दुनिया का पता अधिक रहता है, अच्छा पहनते हैं और राष्ट्रीय सम्बन्ध की समस्याओं पर अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक योग्यता से बात चीत और तर्क कर सकते हैं। फिर भी यह सब जगह आवाज उठ रही है कि ग्राम-सुधार एक अलग ही समस्या है, और इसके अनेक पहलुओं का अध्ययन करना चाहिये और उसको हल करना चाहिये जिससे राष्ट्रीय जीवन की यथार्थ रूप से और ठीक तरह नींव डाली जा सके। जांच और सावधानी, विश्लेषण तथा विवेचना के लिये यह मांग एक पीढ़ी पहले गैरसरकारी राजनीतिज्ञों द्वारा उत्पन्न हुई थी इसमें बाद में सहयोग आन्दोलन के नेताओं ने भाग लिया और उसके बाद कुछ उत्साही सरकारी अफसरों ने इस पर जोर दिया।

प्रान्तीय सरकारों में कांग्रेस मंत्रिमण्डलों के स्थापित होने पर ग्रामोद्धार और उसकी समस्यायें विशेष रूप से सामने आईं। लोगों ने तरह तरह की योजनाओं का प्रस्ताव करना प्रारम्भ किया। सहगामी धन्धे जैसे मुर्गी पालना, शहद की मक्खी पालना, शिल्प जीवन की उन्नति, विशेष कर कताई और बुनाई, कलों का लोप जिससे हाथ से चावल की कुटाई, कोल्हू से तेल पेरने, गुड़ बनाने हाथ से कागज बनाने, हाथ से आटा पीसने इन सब बातों की ओर लोगों का ध्यान गया। कुछ अधिक नरम विचार के लोगों की पुकार यह हुई कि खेती के लिए अच्छा बीज, अच्छी खाद, खेती की उपज की बिक्री का अच्छा प्रबन्ध और अधिक कीमत होनी चाहिये। सरकारी विभागों में लोक शिक्षा और प्रचार के लिये जिन बातों को उठाया, वे हैं मेजिक लैंटर्न द्वारा लोक-प्रिय शिक्षा, ध्वनि-क्षेपण (ब्राडकास्टिंग) द्वारा विचारों का तीव्रता से प्रसार, सिनेमा द्वारा उन्नति का दृश्य-प्रदर्शन, चलते-फिरते व्याख्यान, चलती-फिरती दूकानें और विज्ञप्तियों की भरमार।

इस प्रकार विचित्र प्रकार के विचारों और आदर्शों के बीच युवक प्रचारक और वयस्क उत्साही व्यक्ति भ्रमित हो जाते हैं और कोई मार्ग ढूढ़ नहीं पाते और यह नहीं तै कर पाते कि ग्राम सुधार के उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिए कौन सा काम पहले हाथ में लें। इस लिए यह उचित है कि सम्पूर्ण समस्या की सभी जटिलताओं पर विचार किया जाय और एक सरल सिद्धान्त निकाला जाय जिसके द्वारा हमें उन गुत्थिओं को सुलझाने में सहायता मिले जिनमें गांव के लोग और उनकी बातें उलझ गई हैं।

हम इस प्रश्न को फिर दुहराते हैं कि हम लोगों के गावों में क्या खराबी आ गई है। इसका जवाब चाहे जो हो, वह

निश्चय ही सर्वांगीण होना चाहिये जिनमें ग्राम जीवन का पूर्ण रूप से विवेचन किया गया है, वह ग्राम-जीवन जो इसके अभ्युदय काल में था, वह ग्राम जीवन जो सुव्यवस्थित, सुनिर्मित राष्ट्रीय जीवन की वास्तविक नींव रहा। देश पर होने वाले विदेशी आक्रमणों ने हमारे ग्राम-जीवन की समान गति को उस समय तक प्रभावित नहीं किया था, जब तक कि पाश्चात्य राष्ट्रों ने हमारे देश में पैर नहीं रक्खा। उस समय भी हम लोगों का ग्राम-जीवन तब तक अव्यवस्थित होना प्रारम्भ नहीं हुआ जब तक कि साम्राज्यवाद के बीच अपने दुहरे अंकुरों अर्थात् उद्योग-वाद और सैनिकवाद के साथ भाप के इञ्जन के अविष्कार और सभी हस्तशिल्पों में यांत्रिक बल के प्रयोग रूप में न पनप उठे। इस विषय का विस्तृत वर्णन गाँधीवाद बनाम समाजवाद, यंत्र बनाम हाथ की शक्ति, आत्म-शक्ति बनाम पाशविक शक्ति से सम्बन्ध रखने वाले निबन्धों में किया गया। इसलिये उन सब तर्कों का दुहराना यहां पर आवश्यक नहीं है। किन्तु एक या दो पैरा में सरसरी निगाह डाली जायगी और सारांश दिया जायगा। अंग्रेजों द्वारा भारत की विजय बहुमुखी हुई, वह केवल भूमिगत वा राजनीतिक ही नहीं हुई है बल्कि औद्योगिक और व्यापारिक भी हुई है किन्तु इनमें सफलता प्राप्त करने के लिये शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी भी हुई है। यदि मुगलों ने भारत को विजित किया तो वे यहीं बस गये, और अपनी कला, अपने दर्शन, और अपनी संस्कृति का हम लोगों की कला, दर्शन और संस्कृति से संयोग कर दिया जिससे हम लोगों की राष्ट्रीय सम्पत्ति विस्तार और परिणाम में समृद्ध हुई। ब्रिटेन ने इसके विरुद्ध किया है। उसने अपनी व्यापारिक वस्तुयें, अपनी भाषा और साहित्य, अपनी परीक्षायें और उपाधियां, अपनी संस्कृति और आदर्श हम लोगों के ऊपर लाद दिया है। फलतः

भारत के गांव उजड़ कर कस्बों में जा बसे हैं। हाथ की कारीगरी की जगह कलों ने ले ली। कौशल के श्रम की जगह कौशलहीन श्रम उत्पन्न हुआ, श्रम अब पूरी नहीं रह गया, वह एक व्यापार की वस्तु हो गया, वह एक कौशल-हीन इकाई रह गया जिसमें व्यक्तित्व, लचक, और उन्नति तथा विकास के सामर्थ्य का अभाव है।

लंकाशायर और बरमिंघम, डंडी और लिवरपुल के कपड़े और औजार, मोजे और नमक के व्यापारों के बाद अंग्रेजी किताबों के व्यापार भी चमका जो शायद भारत के साथ ब्रिटेन का सबसे बड़ा व्यापार है, उसके बाद कानून और कानून-निर्माण का व्यापार आया। इस प्रकार भारत के बाजार, भारत की कचहरियां, कालेज, और धारा-सभायें भारतीयों को हुकूमत से जोर से नफासत और कपड़े, कानून और संस्थायें तथा संस्कृत और शिक्षा प्रदान करने वाली बन गईं। गांव के लोगों ने कस्बों में आकर बसते जाने और नई सभ्यता ग्रहण करते जाने के लिए जी जान से प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। जिस प्रकार किसी समय योरोपियन सभ्यता के आदिमकाल में इङ्गलैंड पर रोम साम्राज्य का अधिकार होने पर वहाँ रोम की प्राचीन संस्कृति ही सर्वत्र व्याप्त हो गई थी उसी प्रकार ब्रिटेन की संस्कृति भारत में सर्वत्र दिखाई पड़ने लगी।

इन नए विषैले विचारों के आगमन का क्या परिणाम हुआ ? विजित जाति की स्वाभाविक महत्वाकांक्षा राजनीतिक उच्च पद प्राप्ति की होती है, उसके लिए चाहे अति घृणित और दासत्वमय संघर्ष भी क्यों न करना पड़ जाय। पुरानी व्यवस्था नई व्यवस्था के सामने झुक गई। खेती के प्रति अनुरक्ति शीघ्र चली गई। ग्रामीण लोगों के लिए नागरिक जीवन एक अपरिहार्य आकर्षण बन गया है। सादा जीवन और ऊंचे विचार का सिद्धांत

पलट कर ऊंचा जीवन और सादा विचार हो गया है। पुराने उद्यमी जीवन के स्थान पर आरामतलबी की चाह उत्पन्न हो गई है। सरकारी नौकरियों की चाह ने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दोनों प्रकार की स्वतंत्रता की प्राचीन भावना को नष्ट कर दिया है। विदेशी भाषा के अध्ययन की चिन्ता में देशी संस्कृति का लोप हो गया है। देश की परम्परायें तक भुला दी गई हैं। वर्तमान समृद्ध और आह्लादपूर्ण भविष्य का अंकुर-स्थल बनने के स्थान पर स्वयं ही अंतिम लक्ष्य बन गया।

पहले जहां विवाद के स्थल पर ही तुरन्त जल्दी में न्याय कर दिया जाता था, उसकी जगह शानबान वाली कचहरियां खड़ी हुई हैं जिनमें कायदे कानून की पाबन्दी के बनावटी तरीके बर्ते जाते हैं और उनमें व्यक्तिगत तत्व का अभाव होता है तथा वे कृत्रिम सी होती है। शिक्षा फौजी व्यवस्था हो गई है और न्याय का पालन अवनत होकर केवल कानून का पालन रह गया जिसके सिद्धान्त विदेश से आए हैं। प्रथायें निर्जीव हो गई हैं और उनका विकास रुक गया है। न्याय के मन्दिर में मुकद्दमों का ढङ्ग जुए सा हो गया है। झूठ कहना फायदे की बात हो गया है। सच्चाई की पूछ नहीं रह गई है। गवाही एक कहानी के रूप में नहीं दी जा सकती, बल्कि वह धूर्त वकील द्वारा जिरह का असम्बद्ध प्रश्नों द्वारा मुँह से निकलवाए उत्तरों के टुकड़े जोड़-जोड़ बनाई जाती है। परिणाम स्वरूप जो बुरा है वह भला दिखाई पड़ने लगता है, इस कारण वादम् (अभियोग) के जोर पर नहीं बल्कि वादी (मुद्दई) के जोर पर जीत होती है।

विदेशी शासन के अनुरक्ति और भक्ति में प्रतिस्पर्द्धा के कारण लोगों में ईर्ष्या द्वेष की भावना उत्पन्न हो गई है और उनमें वर्ण और सम्प्रदाय की एक गहरे और विषैले रूप की मनोवृत्ति उत्पन्न हो गई है। दुर्भावना बहुत अधिक जागृत हो गई है, और राष्ट्रीय

जीवन के सब रूपों में, विशेष कर चुनावों और नौकरियों में तनाव और दूषण फैल गया है। ग्राम शिल्प नष्ट कर दिये गये हैं। कलें प्रधान शक्ति बन गई हैं। अधिकार ने कर्तव्य का, प्रतिस्पर्द्धा ने सहयोग का और घृणा ने प्रेम का स्थान ग्रहण कर लिया है। गांव के लोगों में एक विषाद और निराशा की भावना छा गई है जो महसूलों के बढ़ने, आमोद-प्रमोद की कमी होने, प्रकृति की अनिश्चित अवस्था और मनुष्यों की अविश्वस्तता विलम्बित आशाओं और भग्न आकांक्षाओं के कारण उत्पन्न हुई हैं। समाज में जीवन के ऊँचे दर्जे तक पहुँचने की अनवरत अभिलाषा ने इस 'आदर्श वाक्य' को जन्म दिया है कि "अपने जीवन यापन का माप दण्ड ऊँचा करो" किन्तु वह ऊँचे होने के स्थान में नित्य नीचे गिर रहा है। मजदूरी श्रम पर हावी हो गई है, धन ने सेवा को पीछे कर दिया है। यदि क्लाइव और हेस्टिंग्स द्वारा की गई लूट ने इङ्गलैंड में मजदूरी की दर बढ़ा दी तो वह कोई दलील नहीं है कि वैसा ही भारत में मांग की जाय। देहात और शहर के स्वार्थों में उसी सरकार द्वारा भेद उत्पन्न कर दिया गया है जो देश का शासन कर रही है। आशा का संचार उसी समय हो सकता है जब कि ला (कानून) कालेज तोड़ दिये जांय, ग्राम-पंचायत स्थापित कर ली जाय भेद को मिटा कर संघ-भावना उत्पन्न की जाय, औद्योगिक और व्यापारिक संरक्षण हटा दिये जाएँ, जीवन-निर्वाह के साधन इस प्रकार बढ़ाये जाएँ जिससे भूखे मरते और नंग-धड़ंग लोगों को काम दिया जा सके।

एक मामूली बीमारी के लिये क्या अजीब इलाज है। हम सब लोग जानते हैं कि गांवों में व्याधि है किन्तु यहां एक चिकित्सक खड़ा होता है जो इलाज की जगह शिमला और दिल्ली, बम्बई और मद्रास तथा कलकत्ता और लाहौर बनाता है। यह बात ठीक है, क्योंकि जब रोगी पेट में दर्द की शिकायत

करता है तो हम रोग की जगह फेफड़े में ढूँढते हैं, और जब कोई लड़की घुटने में दर्द बताती है, तो रोग की वजह रीढ़ में तजवीज की जाती है। शरीर तो एक ही है, किन्तु रोग बहुतेरे और अनेक रूप धारी हैं।

इन पंक्तियों को पढ़ते समय पाठक पूछ सकता है कि ग्रामोद्धार की बात उठाने में केवल राष्ट्रीय समस्याओं को दुहराया है। यह सच है, क्योंकि क्या भारतीय राष्ट्र गांवों में ही नहीं रहता है ? जहां स्थूल रूप से यह कहना ठीक है कि हम राष्ट्र का पुनर्निर्माण बिल्कुल नींव से ही नहीं कर सकते, वहाँ यह भी कहना ठीक है कि समस्या रूप और दृष्टिकोण में उतनी ही मनोवैज्ञानिक है जितनी भौतिक, या आर्थिक। ग्रामोद्धार का एक अभीष्ट राष्ट्रीय आदर्शों को ठीक रूप में अनुभव करना है। यही कारण है कि राष्ट्रीय अधःपतन के विवेचन के लिये इतना विस्तृत लेख लिखा गया है। हमारे देश की बुनियादी समस्याओं के लिये राष्ट्रीय शक्ति से संयोजनात्मक उपयोग में एक भारी बाधा वह गर्त्त है जो वर्गों और जनता के अनिच्छुक है और जब वे जाते हैं तो अपने बंधुओं की समस्यायें एक अनुग्रह रूप से देखते हैं।

अतएव ग्रामोद्धार के लिये पहला काम है कि ऐसे कार्यकर्ताओं को ढूंढा जाय तो अनुग्रहकर्त्ता या बड़े आदमियों के रूप में कार्य न करें। वे देहात के लोगों में से एक होने का अनुभव करें, उनके दुख में, बीमारी में एक हों, सेवा और त्याग में भी एक हों। क्या आप कीचड़ मिट्टी और धूल तथा बीमारी में रहने वाले गरीब आदमी के लिये दिल में दर्द अनुभव करते हैं ? यदि ऐसा है तो क्या आप उनकी जरूरतों और देन में मददगार होने के लिये तैयार हैं ? आप गांवों के अतिथिगृह में जाते हैं। खपरैल में जाला लगा होता है, फर्श में गड्ढे बने

रहते हैं। क्या कभी झाड़ू लेकर आप जाले साफ करते हैं और कुदाल लेकर फ़र्श बराबर कर देते हैं? पास ही किसी के गिरते हुये घर के खंभों को आप बदलने की कोशिश करते हैं? क्या दूध के लिये रोते हुये बच्चे के लिये दो आंसू बहाते हैं और उसको खिलाने का प्रयत्न करते हैं? एक शब्द में क्या आप उन लोगों की सेवा करने के लिये दौड़ते हैं जो मुसीबत में होते हैं और आप लोगों से अपने को उनके दुःख और यातना का साथी बनाने को कहते हैं? हम सब असिसी का संत फ्रांसिस या साबरमती का महात्मा नहीं बन सकते, लेकिन हमें अपने को आकाश से उतरा हुआ मनुष्य नहीं समझना चाहिये, जो गरीब और असहाय, भूखे दूत और नंगधड़ंग लोगों पर अनुग्रह प्रकट करने के लिये पृथ्वी पर उतरा हो।

ग्रामोद्धार के लिए गौण सहायक धन्धों की आवश्यकता है जो गरीब मजदूरों और किसानों की अपर्याप्त मजदूरी के अलावे कुछ अतिरिक्त आय करा सकने में सहायक हो वा उनकी बेकारी के समय काम दे सके। साग-सब्जी बोना, खेती, मधुमक्खी पालना, सूत कातना, बुनना, कागज बनाना, आटा पीसना—ये सब अन्य सैकड़ों धन्धे ढूंढ़े जा सकते हैं जो गरीबों की आवश्यकता पूर्ति कर सकें। किन्तु कस्बे वालों का यह कर्तव्य है कि वे कुर्सी की जगह गलीचा, लोहे की कलम की जगह नरकल की कलम, लंकाशायर मिलों की जगह खद्दर की धोती, जापानी खिलौनों की जगह देश में बने खिलौने इस्तेमाल करें। गांव संस्कृति के केन्द्र, कला के स्रोत, और शिल्प के आवास हैं और यदि शहराती लोगों की रुचि गांव की बनी चीजों के ग्रहण करने की न हो, तो गांव वालों को रेडियो पर यह कहने से क्या फायदा कि उन्हें प्रतिदिन स्नान करना चाहिये, जिसके लिये उन्हें पानी की आवश्यकता है, वा यह कि उन्हें सफाई से रहना चाहिये जिसके लिये उन्हें भर पेट भोजन

की आवश्यकता है। भूखा आदमी रूखा आदमी होता है, और रेडियो से भी उसी प्रकार उदर की पूर्ति नहीं हो सकती जिस प्रकार मतों (वोटों) से।

गांव की स्वतंत्रता इकाई को तुरन्त पुनर्स्थापित करने की आवश्यकता है। यह पंचायत, निर्णायक समिति और सहयोग समिति होनी चाहिये। इसको नैतिक अधिकार का प्रयोग करना चाहिये, स्थानीय मामलों का निबटारा करना चाहिये और कृषि की आर्थिक व्यवस्था का प्रबन्ध करना चाहिये। ये ही साधन हैं—जिनको आप चाहे संस्था नाम दे लें—जिनसे ग्राम स्वावलम्बी बन सकते हैं। ग्राम वाचनालय से देश-विदेश के नित्य के घटना-चक्रों का हेर-फेर गांव वालों को मालूम होता रहता है। समाचार पत्र उनके मस्तिष्क का आहार उसी प्रकार देते हैं जिस प्रकार खेत और उसकी उपज पेट को भोजन देते हैं। पाठशालायें केवल किताबी संस्थायें नहीं रह जानी चाहिये जिससे बेकारी की वृद्धि हो। सुई से लेकर मोटर कार तक गांव वालों को बनाने दीजिए और तब कहीं पर भी अभाव व दुःख न रह जायगा, बेकारी की समस्या कहीं नहीं रह जायगी। हम अपने बच्चों को आजकल के स्कूलों और कालेजों में न भेज कर बहुत अधिक धन की बचत कर सकते हैं जहां की शिक्षा महँगी, अराष्ट्रीय और व्यर्थ है। यदि मूल के थोड़े बहुत फल को मनुष्यों की प्रारम्भिक आवश्यकताओं के लिए सहायक होने के लिये संचित रखना हो तो गांव के धन की खींच को पहले तुरन्त रोकना चाहिये। अपव्यय को रोकने के बाद अल्प व्यय की नीति ग्रहण करने की आवश्यकता है, जिससे कोई व्यक्ति अपनी हैसियत से बाहर न रहे, किन्तु उसके साथ ही राष्ट्र को अपना बस चलाने पर पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये कि समाज के प्रत्येक स्त्री और पुरुष को निश्चित रूप से भोजन, वस्त्र, रहने के लिए मकान और सामान्य संस्कृति प्राप्त हो।

नगर वालों को इसके लिए तैयार हो जाना चाहिये कि उनमें से प्रत्येक, इस तत्व के बावजूद भी कि वह कस्बे में रहता है, वास्तव में गांव में रह सकता है। एक नवयुवक की कल्पना कीजिये जो असल में एक गांव में रहता है किन्तु नित्य प्रातःकाल चाय पानी के लिये कस्बे में जाता है, नित्य सायंकाल सिनेमा, थियेटर के लिये जाता है, प्रत्येक दूसरे दिन बाल बनवाने जाता है, प्रत्येक सप्ताह धुलाई की दूकान में जाता है, प्रत्येक मास बाल कटवाने जाता है तथा जब तब नाटक वा सरकस को देखने पहुँचता है। क्या वह गांव में रहा है? वह अपने कपड़े लत्ते, सिलीसिलाई कमीजें, जूते, जाते सब कुछ कस्बे में ही खरीदता है। इसी प्रकार कोई कस्बे का भी रहने वाला हो सकता है जो यथार्थ में कस्बे में रहता हुआ भी गांव में ही रहे जिस प्रकार गांव का व्यक्ति गांव में रहना हुआ भी कस्बे का रहने वाला हो। सारी समस्या मानसिक है, जिसमें प्रत्येक कस्बे और गांव के निवासी को प्रत्येक चीज की छान बीन करनी चाहिये जिसे वह खरीद रहा हो और इसका इतमीनान कर लेना चाहिये कि खरीदी जाने वाली चीजें देश की बनी हैं वा विदेश से आई हैं, गांवों में बनी हैं वा कस्बों में, हाथ की बुनी हैं वा कलों की। और जो व्यक्ति ऐसी चीजें खरीदता है जो हाथ की और देशी सामग्री की बनी हों वह चाहे गांव में बनी हों व कस्बों में, वही आदमी भारत के गांवों का यथार्थ उद्धार करने वाला है—वह आदमी नहीं जो अपनी छुट्टी के संध्या समय को विद्यार्थी वा व्यवसायी रूप में व्यतीत करता है और एक वा दूसरे विषय पर विद्वत्ता-पूर्ण भाषण देने की योजना करता है। गांवों की बात सोचिये और उसके धन्धों की सहायता कीजिये, आप ग्रामोद्धार के हितचिन्तक बन जाएँगे।

अध्याय १८

शांति सेना

कांग्रेस रूप प्राणी की आशाओं को कार्यान्वित करने वाले अनेक अंगों में एक स्वयंसेवक दल है जिसे कांग्रेस ने स्वीकार कर हिन्दुस्तानी सेवादल नाम दिया था। एक दर्शक से कुछ पहले यह एक पृथक और स्वतंत्र रूप में कार्य कर रहा था किन्तु बाद में १९३१ ई० में यह सम्बद्ध संस्था बना लिया गया और इसे कार्य-कारिणी समिति के एक सदस्य श्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कार्य करने का आदेश हुआ। परिणाम-स्वरूप इसे लगभग उसी दर्जे का रूप दिया गया जिस प्रकार अखिल भारतीय चरखा सङ्घ (१९२५) अखिल भारतीय हरिजन सेवक सङ्घ (१९३३) तथा अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा समिति (१९३७) की स्थापना हुई थी अनेक अन्य कांग्रेस संगठनों की तरह दल भी सविनय अवज्ञा के दिनों में गैर कानूनी घोषित कर दिया गया था और आन्दोलन के स्थापित होने पर उन्हीं की तरह इस पर से सभी प्रतिबन्ध हट गया था किन्तु इसकी पुनः स्थापना नहीं हुई।

हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संगठन पुनः स्थापित करने का प्रश्न कांग्रेस-अधिकारियों के सामने रक्खा था कुछ लोगों को आश्चर्य हो रहा था कि इसे निश्चित रूप क्यों नहीं दिया जा रहा है। महात्मा जी का बाद में निकला हुआ शान्ति-सेना पर का लेख इस समस्या के सम्बन्ध में खड़े हुये रहस्यों को हल कर देता है एक स्वयं-सेवक संगठन का उद्देश्य यह होना चाहिये और वास्तव में सदा रहा भी है कि सेवा करने व्यवस्था स्थापित करें और कांग्रेस के सत्य और अहिंसा का

पालन करते हुये राष्ट्रीय सेना का कार्य करें, किन्तु यह स्पष्टतया अनुभव किया गया कि इन दोनों सिद्धाँतों का सेवा-कार्य करते, समय सेना द्वारा केवल वर्दी की भांति प्रयोग नहीं होना चाहिये। बल्कि सेना में भर्ती होने के समय ही युवक पुरुषों के लिये वह वास्तविक प्रेरणा होनी चाहिये। सत्य और अहिंसा काँग्रेस द्वारा निर्धारित वर्दी नहीं है बल्कि वे स्वयं सेवक संगठन की अस्थि और पेशी, नस और रचना शैली है। सेवा यह है किन्तु राष्ट्रीय सेना का मध्य केन्द्र नहीं है जिसमें इसे समय आने पर रातो ही रात परिवर्तित किया जा सके जिस जिस प्रकार हम लोगों में से जेल काटे हुये लोगों को गवर्नरों ने एक दिन प्रात: काल निमंत्रण भेजा और वे मंत्री हो गये। एक नये प्रकार की सेना का मध्य केन्द्र होगा जिसके सैनिकों को स्वराज्य के बाद भी काम करना पड़ेगा किन्तु पेटी और डंडे के साथ नहीं तथा तलवार और बन्दूक के साथ नहीं, बल्कि शरीर पर शान्ति के चिन्ह और हृदयों में त्याग की भावना के साथ हम इस योजना पर कुछ और विचार करेंगे।

सभी सेना इस आशा से संगठित की जाती है कि उसे मोरचे के मारू बाजे का सामना करना पड़ेगा। कुछ लोगों को रणभूमि देखने का भी अवसर नहीं मिल सकता और कुछ राष्ट्रीय पैमाने पर किये जाते हुये मनुष्य की पहली ही बध-लीला से वापस नहीं हो सकते। यह एक ऐसे दस्तावेज की तरह माना जा सकता है जिस पर ठीक तरह से स्टाम्प लगाया गया है और गवाही हुई है। दस्तावेज की मजबूती पर एतराज नहीं भी हो सकता है और उसे कचहरी में जाने की नौबत नहीं भी आ सकती है। ऐसी दशा में यह चुप-चाप से अभिप्राय को पूरा कर चुका रहेगा जिससे कोई विरोध न खड़ा हो। किन्तु यह कचहरी में भी लाया जा सकता है और नाजायज करार दिया जाकर फाड़

दिया जा सकता है और इस तरह हट्ट हो सकता है। उस समय वह बेकार हो जाता है। इसी प्रकार राष्ट्रों की नियमित सेना के संगठन की बात है और उनकी सेनाओं के भाग्य-परिवर्तन इसी प्रकार होते हैं।

यह प्रश्न अक्सर पूछा गया है कि भारत अपने अहिंसा सिद्धान्त का इतना अधिक प्रदर्शन करते हुये मालूम पडता है क्या सेना और शास्त्र रक्खे बिना स्वराज्य को सम्भवतः चला सकता है। इसी तरह यह भी पूछा जाता है कि जब हम कलों और कल से उत्पन्न वस्तुओं की बात घृणा पूर्वक करते हैं तो क्या हम रेलवे. टेलीफोन और तार के बिना काम चला सकते हैं। एक तर्क को बढ़ा कर व्यर्थ रूप में तूल देने से कोई परिणाम नहीं निकलता। सभी तार्किक निष्कर्षों को उपयोगी परिणाम नहीं कहा जा सकता। अपनी आलोचना में भी हमें अपेक्षित भावना रखनी पड़ेगी। विरोध की अवस्था में राजनीति के साधन रूप में अहिंसा को सिद्धान्त के रूप में प्रयुक्त किया गया था यह उनको पार कर गया है और धीरे २ अपने विरुद्ध प्रचंड असुविधाओं का मुकाबला करने की शक्ति और सामर्थ्य सिद्ध कर चुका है। यह राजनीति से प्रयुक्त एक नया दर्शन है। प्रबल ब्रिटेन के पाशविक प्रहारों के सामने ठहर सकने और उसे अधिकृत कर सकने की इसकी सामर्थ्य को एक बार हम लोगों ने देख लिया है इसलिये इसके प्रयोग के क्षेत्र को विस्मृत करने के समय हमें उन्हीं आलोचना और सन्देहों को नहीं दुहराना चाहिये।

किन्तु यहां भूतकालीन और समकालीन दोनों इतिहास भी अहिंसा की प्रबल शक्ति के प्रचुर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन काल के रोम में दङ्गलों के व्यवसायी मल्लों का युद्ध किस प्रकार समाप्त किया जाता था? क्या यह सत्य नहीं है कि अहिंसा में विश्वास करने वाला व्यक्ति उसको शान्त करने

वाला होता था जो पाशविक शक्ति के इन दो अवतारों के मध्य कूद पड़ता था और इन दोनों मल्लों की तलवार के झोंक से उसकी मृत्यु हो जाती थी जिससे अन्त में नृशंस क्रीड़ा का रोम में लोप किया जा सका ? कुछ ही दिन पहले पंजाब में एक घटना हुई जो हमारे उन बन्धुओं के स्मरण रखने योग्य है जो संदेह और विराग की भावना में लिप्त हैं। पास पास रहने वाले दो परिवारों में झगड़ा हुआ जिसने हथियार-बन्द युद्ध का रूप धारण कर लिया। वे घातक प्रहार करने वाले थे कि उनके बीच एक बारह बरस की लड़की कूद पड़ी जिसका दोनों दलों से समान रूप से ही रक्त का सम्बन्ध था और दोनों पक्ष वाले एक दूसरे पर जो प्रहार कर रहे थे वह उस पर ही हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वह काल-कवलित हो गई और दोनों लड़ने वाले दल इस लज्जा के कारण पृथक हो गये और उन्होंने अपने झगड़ों को पाशविक शक्ति द्वारा नहीं बल्कि तर्क और विवेक द्वारा निबटा लिया। अहिंसा की शक्ति सिद्ध करने के लिये कोड़ियों उदाहरण ऐसे ढूँढ़े जा सकते हैं जो हम लोगों के महाकाव्यों में आते हैं। किन्तु हम एक ऐसे युग में रहते हैं जब कि प्रहलाद की बात कवि की कल्पना का प्रेत कह कर मिथ्या बतलाई जाती है और विश्वास ने संदेह और निराश को स्थान दे दिया है।

किन्तु फिर लोग पूछ सकते हैं कि क्या अहिंसात्मक सेना के सदस्यों का भर्ती कर सकना संभव है जो क्रोधोन्मत्त भीड़ और पाशविक उपद्रवों का अपने शिकार बनाने के लिये जान-बूझ कर तैयार होंगे। खैर हम पूछते हैं कि महायुद्ध में मोर्चे की खाली जगहों को भरने के लिये और अज्ञात व्यक्तियों द्वारा चलाई जाने वाली तोपों के मुंह में पड़ने के लिए लोग इतनी अधिक संख्या में भर्ती हो रहे हैं। वहां रक्त का सम्बन्ध रखने वाले समीपी परिवारों के झगड़े को दूर करने का ऊंचा उद्देश्य भी नहीं

था। क्या आप यह कहते हैं कि महायुद्ध की रणभूमि में कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से नहीं गया, सब जबिया भरती द्वारा ही भरती किये जाते थे? वह युद्ध की भीषणता को उससे भी अधिक भयानक रूप में चित्रित करेगा जैसा हम विश्वास करते हैं और इससे झगड़ों का निपटारा करने के लिए परम्परागत साधनों को ही मान्य करने के लिये दलील मिलती है। क्योंकि युद्ध की समाप्ति पर होने वाली प्रत्येक संधि अपने साथ एक नए युद्ध का बीज भी बोती गई। हम इस बात को आज देख रहे हैं इसलिये हम लोगों के युद्ध कला परिवर्तित करने का यह समय है। शान्ति स्थापित करने में युद्ध असफल हो गया है। इसलिए हमें युद्धों को रोकने के लिए शान्ति के मार्ग की प्रतीक्षा करनी चाहिये। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिए कि लोग शान्ति सेना में भरती होने के लिए आवेंगे। युद्ध और शान्ति दोनों में भर्ती होने पर युद्ध की आशंका समान रूप से है। कोई भी इस बात की कल्पना नहीं कर सकता कि जब सैनिक भर्ती होता है तो वह बारिकों में फुटबाल और गल्फ खेलने के लिये भरती होता है। वह अपना प्राण अपनी हथेली पर लेकर चलता है। इसी तरह शान्ति सेना में भरती होने वाला व्यक्ति भी पूर्ण रूप से मृत्यु के लिये तैयार रहता है किन्तु उसमें यह भी प्रेरणा रहती है कि वह एक नया प्रयोग करने जा रहा है जो भूतकाल में प्राप्त भव्य परिणामों को देखने पर भविष्य में भी वैसे ही परिणामों की आशा से पूर्ण है।